श्रीपरमात्मने नमः   श्रीभगवदात्मने नमः

श्रीपरमपारिणामिकभावाय नमः

श्री

भेद ज्ञान

(द्वितीय संवर्द्धित संस्करण)

लेखक व प्रकाशक —

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई

जगन्नाथ प्लोट, प्रभात कुटीर

राजकोट (सौराष्ट्र)

शास्त्र का चौक, जयपुर (राजस्थान)

द्वितीयावृत्ति 2000

मूल्य दो रुपया

श्रुत पंचमी वीर संवत् २४८१ विक्रम संवत् २०१२

गुरुवार, तारीख २६ मई, सन् १९५५ ई०

मुद्रक —
श्री वीर प्रेस, जयपुर।

दो शब्द



भेद ज्ञान की रचना वीर निर्वाण सम्वत् २४७८ में हुई थी। समाज ने इसे बहुत ही प्रेम से अपनाया। प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो जाने पर यह द्वितीयावृत्ति लाभ सुधारों के साथ समाज के समक्ष रखी जाती है। आशा है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपना कल्याण अवश्य करेगा। स्वाध्यायप्रेमियों की संतुष्टि के लिए इस संस्करण में अनेक विषयों का खुलासा किया गया है। श्री धवल ग्रन्थ में उठाए गये कुछ प्रश्नों का विस्तार से विवेचन भी किया है। साधारण जनता जो धवल ग्रन्थ का स्वाध्याय नहीं कर सकती है, इस पुस्तक से सहज ही में ग्रन्थराज के अनेक ज्ञातव्य विषयों का ज्ञानोपार्जन कर सकती है।

आ शु चि

—ब्र० मूलशंकर दशाई

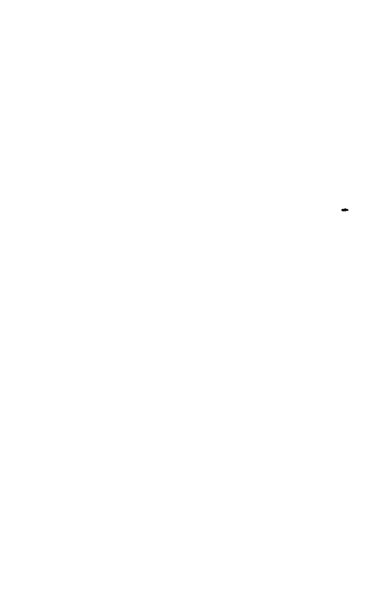
मुद्रक —
श्री वीर प्रेस, जयपुर।

दो शब्द

भेद ज्ञान की रचना वीर निर्वाण सम्वत् २४७८ मे हुई थी। समाज ने इसे बहुत ही प्रेम से अपनाया। प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो जाने पर यह द्वितीयावृत्ति खास सुधारों के साथ समाज के समक्ष रखी जाती है। आशा है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपना कल्याण अवश्य करेगा। स्वाध्यायप्रेमियों की संतुष्टि के लिए इस संस्करण मे अनेक विषयों का खुलासा किया गया है। श्री धवल ग्रन्थ मे उठाए गये कुछ प्रश्नो का विस्तार से विवेचन भी किया है। साधारण जनता जो धवल ग्रन्थ का स्वाध्याय नहीं कर सकती है इस पुस्तक से सहज ही में ग्रन्थराज के अनेक ज्ञातव्य विषयों का ज्ञानोपार्जन कर सकती है।

आ शु चि

—ब्र० मूलशंकर देशाई



विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

सूचना – जहां (ध ५ १८१) ऐसा लिखा है उसका यह अर्थ करना कि ध=धवलग्रन्थ ५=पुस्तक नम्बर पाच १८१=पृष्ठ नंबर १८१



श्री परमात्मने नमः  श्री भगवदात्मने नमः

श्री परम पारिणामिकभावाय नमः

श्री

★ भेद ज्ञान ★

मङ्गलाचरणम् ।

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरं ।
तेषां पदार्थभङ्गं मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ॥

अन्वयार्थ—(अपुनर्भवकारण) मोक्ष के कारण भूत (महावीरं) वर्द्धमान तीर्थंकर भगवान को (शिरसा) मस्तक द्वारा (अभिवंद्य) नमस्कार करके (मोक्षस्य मार्गं) मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारण स्वरूप (तेषां) उन षड्द्रव्यों के (पदार्थ भङ्ग) नव पदार्थरूप भेद को (वक्ष्यामि) कहूँगा ।

वर्तमान पंचम काल में भगवान् परम भट्टारक देवाधिदेव श्री वर्द्धमान स्वामी का शासन चलता है। क्योंकि वह धर्म तीर्थ के कर्ता हैं उनको भक्तिपूर्वक वंदन करके मैं मोक्ष-मार्ग के साधन भूत 'भेद ज्ञान' का

प्रश्न—भगवान् महावीर स्वामी का शासन कब से उत्पन्न हुआ है ?

उत्तर—इस अवसर्पिणी कल्प काल के दुःषमा सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

वह इस प्रकार से है—पन्द्रह दिन और आठ मास अधिक पिचेत्तर वर्ष चतुर्थकाल शेष रहने पर (७५ व. = मा. १५ दि.) पुष्पोत्तर विमान से अषाढ शुक्ल षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु से युक्त और तीन ज्ञान के धारक महावीर भगवान गर्भ में अवतीर्ण हुए। इसमें तीस वर्ष कुमार काल, बारह वर्ष उनका छद्मस्थकाल, केवलीकाल भी ३० वर्ष, इस प्रकार इन तीन काल का योग ७२ वर्ष होते हैं। इनको ७५ पिचेत्तर वर्षों में से कम करने से वर्धमान जिनेन्द्र के मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थकाल रहता है उसका प्रमाण होता है। इसमें ६६ दिन कम केवली काल के जोडने से, नौ दिन और छह मास अधिक तेतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं।

शंका—केवली काल में छयासठ दिन कम किस लिये किये जाते हैं ?

समाधान —क्योंकि [illegible] भी उनमे तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—इन दिनों में [illegible] नहीं हुई ?

समाधान—[illegible] दिनों में दिव्यध्वनि का [illegible] है।

शंका—सौधर्म इन्द्र ने [illegible] उपस्थित क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं किया [illegible] असहाय सौधर्म इन्द्र के [illegible] था उस समय अभाव था।

शंका—अपने पादमूल में [illegible] वाले को छोडकर अन्य [illegible] दिव्यध्वनि [illegible] न प्रवृत्त हुई ?

समाधान—नहीं होती है [illegible] और स्वभाव दूसरे के प्रश्न [illegible] ऐसा होने पर अव्यवस्था [illegible]

इस कारण चतुर्थकाल [illegible] रहनेपर 'तीर्थ की 'उत्पत्ति [illegible]

अन्य कितने ही आचार्य [illegible] कम बहत्तर वर्ष प्रमाण [illegible] हैं। (७१ T ३ मा ...

उनके अभिप्राय के अनुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ, और केवलज्ञान के कालों की परूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—

गर्भस्थकाल—आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशलादेवी के गर्भ में आकर और वहां आठ दिन अधिक नौ मास रह कर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आए।

कुमारकाल—वर्द्धमान स्वामी २८ व ७ मा १२ दिन (अठाइस वर्ष सातमास और बारह दिन) देवकृत श्रेष्ठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधिक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्ठोपवास के साथ मगसिरकृष्णा दशमी के दिन गृहत्याग करके सुरकृतमहिमा का अनुभव कर तपकल्याण द्वारा पूज्य हुए।

छद्मस्थकाल—रत्नत्रय से विशुद्ध महावीर भगवान् १२ व ५ मा १५ दिन (बारह वर्ष पांच मास और पन्द्रह दिन) छद्मस्थावस्था में बिताकर ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिका ग्राम के बाहर शिलापट्टपर षष्ठोपवास के साथ आतापन योग युक्त होते हुए अपराह्न काल में पादपरिमित छाया के होने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर चार घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

केवलज्ञानकाल—भगवान महावीर २९ व ५ मा २० दिन (उनतीस वर्ष पाच माम बीस दिन) चार प्रकार के अनगारों व बारहगणों के साथ विहार करते हुए पश्चात् पावानगर में कातिक मासमे कृष्णपक्ष की चतुर्दशी स्वाति नक्षत्रमें रात्रि को शेषरज अर्थात् अघातियाकर्मों को नाश करके मुक्त हुए।

महावीर जिनेन्द्र मुक्त होने पर चतुर्थकाल के जो शेष वर्ष रह वह तीन वर्ष आठ माम पन्द्रह दिन (३ व ८ मा १५ दि) प्रमाण है।

उक्त दो उपदेशों मे कौनसा उपदेश यथार्थ है इस विषय म (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाते क्योंकि न तो इस विषय का कोई उपदेश प्राप्त है, और न दोनो मे से एक मे कोई बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों म से एक ही सत्य होना चाहिये उसे जानकर कहना चाहिये। (ध—९—११९)

महावीर भगवान मुक्त हुए बाद ६०५ व ५ मा (छहसो पाच वर्ष पाच मास) में शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई है। कहा भी है कि—

पचयमासा पचयवासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥

अर्थ—पांच माम पांच दिन और छहसौ वर्ष

हैं। इसलिये शककाल से सहित राशि स्थापित करना चाहिये। (४-६-१३०)

६०५ व ५ मा (छहसौ पाच वर्ष पाच मास) में शक नरेन्द्र के काल को मिला देने पर वर्द्धमान जिनके मुक्त होने का काल आता है।

अन्य कितने ही आचार्य वीर जिनेन्द्र मुक्त होने के दिन से चौदह हजार सातसौ तिरानवें (१४७९३) वर्षों के बीत जाने पर शकनरेन्द्र की उत्पति को कहते हैं। यहा भी है कि—

गुत्ति पयत्थ भयाइं चौदसरयणाइं समइक्कताइं।
परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्जं सगणरिंदस्स ॥

अर्थ—वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् गुप्ति[3] पदार्थ[9] भय[7] और चौदह[14] रत्न अर्थात् चौदह हजार सातसौ तिरानवें वर्षों के बीतने पर शकनरेन्द्र का राज्य हुआ।

अन्य कितने ही आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि— वर्द्धमान जिनके मुक्त होने के दिन से पाच मास अधिक सात हजार नौसौ पिचानवे वर्षों के बीतने पर शकनरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई। यहा भी है कि—

सत्तसहस्सा णवसद पचाणउदी स पच मासा य।
अइक्कता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती ॥

अर्थ—जब सात हजार नौ सौ पिचानवें वर्ष और पाच मास बीत गये तब शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई। ७९९५ व ५ मा) (४-६-१३३)

इन तीन उपदेशों मे एक होना चाहिये। तीनों उपदेशों की मान्यता संभव नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है। इसलिये जानकर रहना चाहिये।

भगवान तीर्थङ्करों की वाणी अक्षरी सहज खिरती है तो भी वह वाणी स्याद्वाद मुद्रा सहित खिरती है। वह वाणी सत्यरूप और अनुभय रूपस्वरूप खिरती है।

शंका—तीर्थंकर तो वीतराग है, अर्थात् वहां बोलने की इच्छा का तो अभाव है तो भी मात्र सत्यवाणी क्यों नहीं खिरी? अनुभयवाणी की क्या जरूरत थी?

समाधान—तीर्थंकरों की वाणी कर्मजनित खिरती है। पूर्व भव में तीर्थंकरों के जीवों ने ऐसी भावना भाई थी कि संसार के सभी जीवों का कल्याण कैसे हो? उसी भावना में सहज तीर्थंकर गोत्र का बंध पड़ गया था, उसके उदय में ही वाणी खिरती है। अनादिकाल से जीव अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्मों से बन्धा हुआ है। ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग दिखाने के लिये जीवका तादात्म्य सम्बन्ध अपना गुण पर्याय के साथ किस प्रकार का है, उसीका ज्ञान कराने के लिये सत्य वाणी खिरी है। और जीवका पौद्गलिक कर्मों के संयोग से कैसी अवस्था हो रही है। इसीका ज्ञान कराने के लिये अनुभय वाणी खिरी है। यह दोनों प्रकार की वाणी एक

साथ सहज खिर रही है यह वाणी सुनकर गणधर देवों ने सूत्र की रचना की।

शंका—गणधर देवों ने चार ही अनुयोग क्यों बनाये?

समाधान—यथार्थ में अनुयोग अनादि अनंत तीन ही हैं। १ करणानुयोग २ द्रव्यानुयोग ३ चरणानुयोग। परन्तु प्रथमानुयोग अनादि अनंत नहीं है। वह तो औपचारिक अनुयोग है।

शंका—तीन अनुयोग क्यों बनाये?

समाधान—जीव का स्वभाव मात्र तो ज्ञायक है। परन्तु ज्ञायक स्वभाव को भूलकर पर पदार्थों में अपनत्व बुद्धिकर दुखी हो रहा है। ऐसा जीवों का संबंध तीन प्रकार का हो सकता है, इसलिये इसीका ज्ञान कराने के लिये तीन अनुयोग की रचना हुई है। पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ में आत्मा का जिस प्रकार का सम्बन्ध है, इसीका ज्ञान कराने के लिये करणानुयोग की रचना हुई। भावकर्म अर्थात् रागादिक की साथ में आत्मा का क्या सम्बन्ध है, उसीका ज्ञान कराने के लिए द्रव्यानुयोग की रचना हुई है। और नोकर्म अर्थात् संसार के सभी पदार्थों के साथ आत्मा का किस प्रकार का सम्बन्ध है, उसीका ज्ञान कराने के लिये चरणानुयोग की रचना हुई है। इसके अलावा और कोई पदार्थ रहता नहीं है, इसलिये अनुयोग तीन ही हैं। इसके अलावा और कोई पदार्थ

रहता नहीं है इसलिये चौथे अनुयोग की कोई जरूरत नहा है। इसलिये अनुयोग तीन ही है। पुण्य पाप के फलका ज्ञान कराने के लिए—अर्थात पापसे बचाने के लिए मात्र प्रथमानुयोग की रचना हुई है। तो भी यह अनुयोग अनादि अनन्त नहीं है परन्तु सादि सान्त है। इस अनुयोग मे अनादि की कथा आ नहीं सकती है।

सरल भाषाम यदि पदार्थों के स्वरूप का निरूपण किया जावे तो उत्तम, ऐसे धर्मानुराग रूपी विकल्प के साथ योगानुसार 'भेदज्ञान' शास्त्र की रचना हुई है। इस शास्त्रम कोई शब्द आगमसे विपरीत विशेष ज्ञानीजनों को देखने में आवे तो सुधारलेने की प्रार्थनाके साथ 'भेदज्ञान' शास्त्रका उदय होता है।

प्रश्न—लोक किसको कहते हैं?

उत्तर—एक अखण्ड आकाश नाम का द्रव्य है, इसके मध्य भाग मे जितने क्षेत्र मे अनन्त जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य तथा असंख्यात कालद्रव्य रहते है उतने आकाशके क्षेत्रका नाम लोक है। बाकीके मर्यादा रहित आकाश को अलोक कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्य कितने हैं?

उत्तर—द्रव्य छह है। १ अनन्तजीवद्रव्य. २ अन-

न्तानन्त पुद्गलद्रव्य ३ एक धर्मास्तिकायद्रव्य ४ एक अधर्मास्तिकायद्रव्य ५ एक आकाशास्तिकायद्रव्य ६ असंख्यात कालाणुद्रव्य ।

प्रश्न—द्रव्यका लक्षण क्या है ?

उत्तर—द्रव्यका लक्षण तीन प्रकार है । १. सत् २ उत्पादव्ययध्रुव ३ गुणपर्यायका समूह, इस प्रकार द्रव्यका लक्षण है ।

प्रश्न—सत् किसको कहते है ?

उत्तर—द्रव्यो मे अस्तित्व नामका गुण है जो द्रव्य की तीनों काल हयाती अर्थात् मौजूदगी दिखाता है। अर्थात् जिसका कभी नाश न हो उसका नाम सत् है ।

प्रश्न—उत्पादव्ययध्रुव किसको कहते हैं ?

उत्तर—द्रव्य अपनी सत्ता कायम रखकर अपनी एक अवस्थाका नाश कर दूसरी अवस्था धारण करे उसी का नाम उत्पादव्ययध्रुव है। अर्थात् नई अवस्था की उत्पत्ति करना वह उत्पाद, पुरानी अवस्था का नाश होना सो व्यय और द्रव्य अर्थात् वस्तु का कायम रहना सो ध्रुव है ।

प्रश्न—गुण पर्यायका समूह किसको कहते है ?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्यमे अनंतगुण है जिसका कभी नाश नही होता, तथा उन गुणोकी समय समयमे होनेवाली शुद्धाशुद्ध अवस्था पर्याय है, अर्थात् गुण सहवर्ती है

ौत् तीनोंकाल रहता है और पर्याय क्रमवर्ती हैं अर्थात्
ाय समय में बदलती रहती हैं। ऐसा गुण पर्यायको जो
रण करता है वह द्रव्य है।

प्रश्न—लोकम छह ही द्रव्य क्यों मानना चाहिये ?
य दिखने में तो दो ही आते हैं ? १ जीव २ पुद्गल।

उत्तर—जीव और पुद्गल तो दिखने म आते हैं।
ों द्रव्यों के चलने में जो निमित्त होता है वह तीसरा
द्रव्य है। जीव और पुद्गलको जो स्थिर रहने म
मित्त है वह चौथा अधर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल को
ने के लिए स्थान देने में जो निमित्त कारण है वह
चवां आकाश द्रव्य है, और जीव एव पुद्गलकी समय
मयम अवस्था बदलनेमें जो निमित्त है वह छठा काल
व्य है। इसलिए छह द्रव्य हैं। छह से कम द्रव्य नहा
एव छह से विशेष द्रव्य भी नहीं हैं। छह द्रव्यम एक
द्गलद्रव्यही रूपी है, बाकी के द्रव्य अरूपी हैं। इन छह
व्यों में से एक जीवद्रव्य ही चेतन है अर्थात् जिसमें
ानने देखने की शक्ति है, बाकी के पाच द्रव्य
चेतन हैं।

प्रश्न—रूपी द्रव्यका क्या अर्थ होता है ?

उत्तर—जिस द्रव्य मे रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हो
सको रूपी अर्थात् मूर्त्त द्रव्य कहा जाता है, और जिसम

रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं है उसी से अरूपी अर्थात् अमूर्त कहा जाता है।

प्रश्न—छहों द्रव्य लोकरूप रहने से एक द्रव्य दूसरा द्रव्य में मिल नहीं जाता है?

उत्तर—छहों द्रव्य परस्पर मिलते हैं तथा परस्पर एक दूसरे को स्थान देते हैं, तो भी कोई भी द्रव्य किसी द्रव्य को बाधा नहीं देता है, और सदा काल मिलते रहते हैं अर्थात् एक क्षेत्रम रहते हैं तो भी सर्व द्रव्य अपनी अपनी हयाती स्थिति तीनों काल कायम रखते हैं। ऐसा नहीं है कि एक द्रव्य का नाश होकर दूसरे द्रव्य में मिल जाय। तादात्म्य सम्बन्ध से प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं, तो भी संयोग सम्बन्ध से जल और दूध की तरह एक क्षेत्रम रहते हैं। यही द्रव्य की स्वतन्त्रता है।

प्रश्न—क्या द्रव्यसे द्रव्य के गुण और पर्यायें अलग कभी रहती हैं?

उत्तर—द्रव्य से द्रव्यका गुण और द्रव्य की पर्याय कभी अलग नहीं रहती है। द्रव्यका द्रव्यके गुण तथा पर्याय के साथ तादात्म्य अर्थात् अभिन्न सम्बन्ध है। जैसे सोना द्रव्य है, पीला गुण है, और कङ्कण पर्याय है। वह सोना द्रव्य, पीलागुण तथा कङ्कण पर्याय से अलग

हीं है।

प्रश्न—जीव द्रव्य का गुण अर्थात लक्षण क्या है और उसकी पर्याय क्या है ?

उत्तर—जीव द्रव्य का नि[illegible] लक्षण एक तो शुद्धाशुद्ध अनुभूतिरूप चेतना और दूसरा शुद्धाशुद्ध चैतन्य परिणाम रूप उपयोग है। तथा नाना प्रकार के देवता, मनुष्य नारकी और तिर्यञ्च यह जीवकी अशुद्ध संयोगी पर्याय है।

प्रश्न—चेतना कितने प्रकार की है।

उत्तर—चेतना तीन प्रकार की है। १ कर्म चेतना। २ कर्मफल चेतना, ३ ज्ञान चेतना।

प्रश्न—कर्म चेतना किसको कहते हैं।

उत्तर—मैं कुछ करूं, मैं कुछ करूं ऐसा जो जीव में भाव होता है वह कर्म चेतना है। कर्म चेतना दो प्रकार की है। १ पुण्यभावरूप २ पाप भावरूप।

प्रश्न—पुण्य भावरूप कर्म चेतना किसको कहते हैं ?

उत्तर—मैं देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करूं, मैं दुखिया जीवको अन्नजल और औषधि देऊं और मैं व्रत,संयम,तप, शीलादि अंगीकार करूं यह सब भाव पुण्य भाव रूप कर्म चेतना है।

प्रश्न—पाप भाव रूप कर्म चेतना किसको कहते हैं ?

उत्तर—पांच इन्द्रियों के विषयों इच्छा करने का

अशुभ कर्मों के निमित्त से जो अपना सुख दु:ख रूप परिणामों का भोक्ता है, और संयोग सम्बन्ध से शुभ अशुभ पौद्गलिक कर्मों का उदय से उत्पन्न जो इष्ट अनिष्ट पौद्गलिक विषयों का भोक्ता है। जो तादात्म्य सम्बन्ध से यद्यपि लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी है तो भी संयोग सम्बन्ध की अपेक्षा से अपनी संकोच विस्तार शक्ति से पौद्गलिक नाम कर्म के द्वारा जो निर्मापित जो लघु दीर्घ शरीर उसके परिमाण ही तिष्ठ है इस कारण स्वदेह परिमाण है। जो संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक कर्मों से एक स्वभाव होने से मूर्तिक विभाव परिणामरूप परिणमता है, तथापि तादात्म्य सम्बन्ध से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त पाय उत्पन्न हुआ अपना जो चैतन्य विभाव परिणाम उनकर संयुक्त है और संयोग सम्बन्ध से अशुद्ध चैतन्य का परिणामों का निमित्त पाय जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों से हुए हैं, तिनकर संयुक्त है। पंचास्तिकाय गाथा २७ में कहा भी है–कि

जीवोत्ति हवदि चेदा उपयोग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता, य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुतो ॥२७॥

प्रश्न—मुक्त जीव का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म, तथा रागादिक भाव कर्म कर सर्व प्रकारसे मुक्त हुआ है। अष्ट कर्मों का

सूत्र द्वारा उन दोनोंके व्यंजनावग्रह का प्रतिषेध किया गया है। यदि कहो कि धीरे धीरे जो ग्रहण होता है वह व्यजनावग्रह है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके ग्रहणका अस्तित्व चक्षु और मनके भी है, अत उनके भी व्यञ्जनावग्रह रहने का प्रसग आवेगा और उन दोनोंमें शनै ग्रहण असिद्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से क्षिप्र भगका अभाव होने पर चक्षु निमित्तक अडतालीस मति ज्ञानके भेदोंके अभावका प्रसग आवेगा।

शङ्का—श्रोत्रादि चार इन्द्रियोंमें अर्थावग्रह नही है, क्योंकि उनमे प्राप्त ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि वनस्पतियोंमे अप्राप्त अर्थका ग्रहण पाया जाता है।

शङ्का—यह भी कहां से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि दूरस्थित निधि-(खाद्यपदार्थ) को लक्ष्कर शाखा का छोडना अन्यथा बन नहा सकता है। (९-१५६)

शङ्का—निम्न लिखित सूत्रसे इन्द्रियोंके प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करना जाना जाता है।

पुट्ठ सुणेइ सद्द अपुट्ठं चेय पस्सदे रूव ।
गन्ध रस च फास बद्ध पुट्ठ च जाणादि ॥ ५४

अर्थ—श्रोत्र से स्पष्ट, शब्द को सुनता है। परन्तु

अर्थावग्रह, स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, और मन द्वारा होता है और उसी का भी बहुविधि आदि बारह प्रत्ययका भेद द्वारा गुणाकार करनेसे ७२ बहत्तर भेद हुये। इनको अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा चार मतिज्ञान का भेदसे गुणाकार करने से २८८ भेद होते हैं। इसी प्रकार व्यञ्जनावग्रहके ४८ भेद तथा अर्थावग्रहके २८८ भेद जोडनेसे कुल ३३६ भेद मतिज्ञानके होते हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ तथा व्यञ्जनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। रसना इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यञ्जनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। घ्राण इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यञ्जनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। चक्षु इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद होता है। चक्षु इन्द्रियका व्यञ्जनावग्रहका भेद नहीं होता है। श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यञ्जनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। मन इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद होता है। मनइन्द्रियका व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है। इसी प्रकार ६०+६०+६०+४८+६०+४८ जोडकर ३३६ भेद होता है।

ग्रहण कालमें ही उस इन्द्रियके अप्रतिनियत गुणसे विशिष्ट उस वस्तुका ग्रहण जिससे होता है वह अनुक्त प्रत्यय है। यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि चक्षु से लवण, शक्कर आदिके ग्रहण कालमें ही कभी उनके रसका ज्ञान होजाता है। दही के गन्धके ग्रहण कालमें उनके रसका ज्ञान होजाता है। दीपकके रूपके ग्रहण कालमें ही कभी उसके स्पर्शका ग्रहण होजाता है। शब्दके ग्रहण कालमें ही संस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके रसादि विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति भी पाई जाती है।

उक्त—अनुक्तके प्रतिपक्ष रूप उक्त प्रत्यय है।

शंका—निःसृत और उक्त में क्या भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उक्त प्रत्यय निःसृत और अनिःसृत दोनों रूप हैं अतः उसका निःसृत के साथ एकत्व होने का विरोध है।

ध्रुव—यह वही है, वह मैं ही हूँ इस प्रकारका प्रत्यय ध्रुव कहलाता है।

अध्रुव—ध्रुवका प्रतिपक्षभूत प्रत्यय अध्रुव है।

शंका—मनसे अनुक्त का क्या विषय है?

समाधान—अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ इसका विषय है। और उसका वहां रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपदेशके बिना अन्यथा द्वादशांग श्रुतका ज्ञान नहीं बन

ता है, अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थ में रहना है। (ध. ६-१५०-५५)

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे मनके अवलम्बनसे किंचित् मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानका नाम श्रुतज्ञान है। एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। जैसे ठंडी हवाका ज्ञान होने के बाद विचारना कि यह हवा मेरी प्रकृतिसे विरुद्ध है मुझको बाधा, नुकसान कारक है यह सोचना श्रुतज्ञान है। इस ज्ञानमें इन्द्रियोंके द्वारा पहले मतिज्ञान होता है अर्थात् मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान के दो, अनेक और बारह भेद हैं।

दो भेद १ अङ्गबाह्य २ अङ्गप्रविष्ट

अनेकभेद—अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं यह गणधर और उनके शिष्यादि द्वारा प्रणीत होता है।

द्वादशभेद—१ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्या प्रज्ञप्तिअङ्ग, ६ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, ७ उपासकाध्ययनाङ्ग, ८ अन्तकृतदशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विपाकसूत्राङ्ग १२ दृष्टिवादाङ्ग।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस ज्ञान के द्वारा एकदेश प्रत्यक्ष रूप मूर्तिक द्रव्य मन

मन पर्ययज्ञान तो मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक ही होता है। यह उन दोनों में भेद है। (५–६–२६)

केवलज्ञान— सर्वथा प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय होनेसे जिस ज्ञान के द्वारा समस्त मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य गुण, पर्याय सहित प्रत्यक्ष जाने जायें, अर्थात् अन्त करण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार, प्रकाशादि की अपेक्षा रखे बिना ही एक आत्म स्वभाव को ही ग्रहण कर सर्व द्रव्य पर्याय को एकही समय में व्याप्यकर प्रवर्तता है वही ज्ञान जो केवल आत्मद्वारा उत्पन्न होता है केवल ज्ञान है ?

प्रश्न—दर्शनोपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर—दर्शनोपयोग के चार भद हैं। १ चक्षुर्दर्शन २ अचक्षुर्दर्शन ३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन। इन चार भेदों द्वारा दर्शनोपयोग जानना। दर्शन और ज्ञान म सामान्य और विशेषका भेद है। जो विशेषरूप जानै उस को ज्ञान कहते हैं इस कारण दर्शन का सामान्य जानना लक्षण है। आत्मा स्वाभाविक भावों से सर्वांग निर्मल अनंत दर्शनमयी है, परन्तु वही आत्मा अनादि दर्शनावरण कर्म के उदयसे आच्छादित है इस कारण दर्शन शक्ति से रहित है। वस्तुओं का आकार — ~ व

पदार्थों में विशेषता न करके जो वस्तु सामान्यका ग्रहण किया जाता है उसे ही शास्त्र में दर्शन कहा है।

शंका—इस प्रकार सामान्य से दर्शनकी सिद्धि और केवल दर्शनकी सिद्धि भी भले हो जावो, किन्तु उससे शेष दर्शनकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि,

चक्खूण ज पयसादि दिस्सदि त चक्खु दसण वेंति।
दिट्ठस्स य जं सरण णायव्वं त अचक्खुत्ती॥

अर्थ—जो चक्षु इन्द्रियको प्रकाशित होता है या दिखता है उसे चक्षु दर्शन समझा जाता है और जो अन्य इन्द्रियों से देखे हुए पदार्थ का ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना। (ध-७-१००)

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि तुमने इस गाथा का परमार्थ नहीं समझा।

शंका—वह परमार्थ कौनसा है?

समाधान—कहते हैं, जो चक्षुओंको प्रकाशित होता अर्थात् दिखता है, अथवा आंख द्वारा देखा जाता है, वह चक्षु दर्शन है, इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान से जो पूर्व ही सामान्य स्व शक्तिका अनुभव होता है, जो कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्ति में निमित्त रूप है वह चक्षु दर्शन है।

शंका—उस चक्षु दर्शनके विषयसे प्रतिबद्ध अन्तरंग

शक्ति में चक्षु इन्द्रियकी प्रवृति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, यथार्थ में तो सब इन्द्रियकी अन्तरंग में ही प्रवृति होती है, किन्तु बालकोंको ज्ञान कराने के लिये अंतरंग में बहिरंग पदार्थ के उपचार से चक्षुओं को जो दिखता है वही चक्षुदर्शन है ऐसा प्ररूपण किया है।

शंका—गाथा का गला न घोंटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते?

समाधान—नहीं करते, क्योंकि, वैसा करने में तो समस्त दोषों का प्रसंग आता है।

गाथा के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार है, जो देखा गया है, अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियों के द्वारा जाना गया है, उससे जो शक्ति अर्थात् ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना चाहिये। चक्षुइन्द्रिय को छोड़ शेष इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्ति से पूर्व ही अपनी विषयमें प्रतिबद्ध स्वशक्ति का अचक्षुज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त भूत जो सामान्यसे संवेद या अनुभव होता है वह अचक्षु दर्शन है ऐसा कहा गया है। (ध-७-१०१)

चक्षुदर्शन—चक्षु दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे बहिरंग नेत्रके अवलम्बनसे चक्षु ज्ञानके पूर्व चक्षुअवग्रहके पूर्वमें जो

होता है उसीका नाम चक्षु दर्शन है। एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेयपर ज्ञानके घूमनेके बीचमें जो कालका अन्तर पडता है, उसीका नाम चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन—अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मका क्षयोपशमसे बहिरंग नेत्र इन्द्रिय के बिना चार इन्द्रियों और द्रव्य मनके अवलम्बनसे चक्षु इन्द्रियको छोडकर शेष इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्ति के पूर्व में जो सामान्य निर्विकल्प अवलोकन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अवधिदर्शन—अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञानके पूर्वमें जो निर्विकल्प सामान्य अवलोकन होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

शंका—विभंग दर्शनको प्रथकरूप से उपदेश क्यों नहीं दिया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—तो मन पर्यय दर्शनको भिन्नरूपसे कहना चाहिये।

समाधान—नहीं क्योंकि, मन पर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसलिये मन पर्यय दर्शन नहीं होता है।

केवलदर्शन—सर्वथा दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे मूर्तिक अमूर्तिक पदार्थोंको प्रत्यक्ष सामान्यरूपसे

द भेद किये बिना देखा जाय उनको केवल दर्शन
है।

प्रश्न—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें क्या भेद है,
क साथ छद्मस्थों को क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति के
भूत प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना
रन्तु केवली में यह क्रम नहीं पाया जाता है, क्योंकि
र अक्रमसे ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति होती है।
ा में दर्शन और ज्ञान इन दोनों की अक्रम से प्रवृत्ति
है, यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है,
, छद्मस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते
ा आगम वचनसे छद्मस्थों के दोनों उपयोगों के
से होनेका प्रतिपक्ष हो जाता है। ज्ञानपूर्वक दर्शन
है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है,
क दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञानपूर्वक दर्शन
ोता ऐसा आगम वचन है। (ध ३ ४५७)

शंका—द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय संज्ञा क्यों है ?

समाधान—क्षयोपशम भावेन्द्रियोंके होनेपर ही द्रव्ये-
री उत्पत्ति होती है। इसलिये भावेन्द्रियाँ कारण है,
द्रव्येन्द्रियाँ कार्य है इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय
संज्ञा प्राप्त है। अथवा उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी

उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्त से होती है इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियां कारण हैं इसलिये भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। (ध १ १३५)

प्रश्न—एक जीवको एक साथ कितने ज्ञान की लब्धि प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—जीवको यदि १ ज्ञान होगा तो वह केवल• ज्ञान होगा। यदि दो ज्ञान की लब्धि होगी तो मति और श्रुतज्ञान होगा। यदि तीन ज्ञान की लब्धि होगी तो मति श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत, मन पर्यय ज्ञान होगा, यदि जीवको चार ज्ञान की लब्धि होगी तो मति श्रुत अवधि, और मन पर्ययज्ञान प्राप्त हो सकता है। परन्तु इनमें से एक समयमें एक ही ज्ञान का उपयोग हो सकता है, उस समय बाकी के ज्ञान की लब्धि सत्ता रूप रहती है। क्योंकि एक सायमें दो पर्याय कभी भी नहीं होगी। जब तक जीवमें मिथ्यादर्शन होगा तब तक मति श्रुत, और अवधि ज्ञान, को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। और जीवमें जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी तब उसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

शंका—मन पर्यय ज्ञान को मिथ्या ज्ञान क्यों नहीं कहा जाता ?

समाधान—मन पर्ययज्ञान सम्यग्दर्शन हुए बाद

ही सधर्मी भावलिंगी मुनि को ही होता है इस कारण से वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही होता है।

मिथ्यादृष्टि की ज्ञान चेतना जैसे मिथ्या ज्ञान कहलाती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की दर्शन चेतना मिथ्या नहीं कहलाती है।

शंका—मिथ्यादृष्टि की दर्शन चेतना मिथ्या न होनेका क्या कारण है?

समाधान—दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है, भेद पाडकर अवलोकन नहीं करती है। इसी कारण सामान्य अवलोकनमें मिथ्या अवलोकन हो नहीं सकता। जहा भेद पाडकर अवलोकन होता है उसीमें मिथ्या हो जाना संभव है। इसी कारण दर्शन चेतना में मिथ्या का भेद नहीं पड़ता है। दर्शन चेतना निर्विकल्प है और निर्विकल्प में मिथ्या हो नहीं सकता।

प्रश्न—ज्ञानचेतना तथा दर्शनचेतना के भेदमें परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद कौनसा है?

उत्तर—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान एवम् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधि दर्शन इनको क्षयोपशम चेतना कहते हैं। क्षयोपशम चेतना पराधीन अर्थात् परोक्ष चेतना है केवलज्ञान, केवलदर्शन, यह दो चेतना क्षायिक चेतना है अर्थात् कर्मका

यह शक्ति आत्मामें प्रगट होती है। यह दोनों चेतना प्रत्यक्ष चेतना है।

मति तथा श्रुतज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहा है। अर्थात् ये ज्ञान इन्द्रिय, व मन की सहायता से जानते हैं। यदि मन और इन्द्रिया बेकार हो जावें तो क्षयोपशमकी लब्धि प्राप्त होने से भी व दर्शज्ञान सफल नहीं है। अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान को एक देश प्रत्यक्ष कहा है एक देश प्रत्यक्ष का यह अर्थ है कि जिस दशामें मन छोड़कर अन्य इन्द्रियादि की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती। इस अपेक्षा से एकदेश प्रत्यक्ष कहा है।

प्रश्न—यह पराधीनता साधारण जीवों के लिये है, कि तीर्थंकरादि महा पुण्यशाली जीवों के लिये भी है?

उत्तर—क्षयोपशमज्ञान का कानून सब जीवों के लिये समान है। बड़े पुरुष या छोटे पुरुष का अन्तर इसमें नहीं है। तीर्थंकर प्रकृतिका धारक जीव जब सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत कर माता के उदरमें आता है तब उसके तीन ज्ञानका क्षयोपशम है, परन्तु माता के उदरमें जबतक पर्याप्त अवस्था यथायोग्य न हुई हो तब तक वह जीव भी देख और जान सकता नहीं है। ऐसी अवस्था में उसका क्षयोपशमज्ञान लब्धि रूप रहता है। पंचाध्यायी में भी कहा है कि—

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रिय सहाय सापेक्षम्।

यावज्ज्ञान चतुष्टयमर्थात् सर्वपरोक्षमितरान्यम् ॥

अर्थ—छद्मस्थ अवस्थाम आवरण और इन्द्रियो की सहायता की अपेक्षा रखने वाले प्रारभके चारो ज्ञानको परमार्थ से परोक्ष कहना चाहिये ।

प्रश्न—परोक्ष का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो होता है वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है यहा उपात्त शब्द से इन्द्रिया व मन तथा अनुपात्त शब्द से प्रकाश व उपदेशादिक का ग्रहण किया गया है। उनकी प्रधानता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जिस प्रकार गमन शक्ति से युक्त होते हुए भी स्वय गमन करने म असमर्थ व्यक्ति का लाठी आदि आलम्बन की प्रधानता से गमन होता है, उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणादि का क्षयोपशम होनेपर जो ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सुज्ञान है, परन्तु स्वय पदार्थों को ग्रहण करने के लिए असमर्थ हुए आत्मा के पूर्वोक्त प्रत्ययो की प्रधानता स उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष है। (ध ६ १४३)

प्रश्न—प्रत्यक्ष ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—प्रत्यक्ष ज्ञान का ऐसा स्वरूप कहा है कि—

क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थ युगपद

निरतिसयमत्यय च्युतञ्च व्यवधान विनाशनम ॥

अर्थ—जिसका ज्ञान क्षायिक अर्थात् असहाय अनन्त तीनों कालक सर्व पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करने वाला निरतिशय विनाशसे रहित और व्यवधानसे मुक्त है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप है। (ध ३–१४२)

प्रश्न—लब्धि और उपयोग किनको कहते हैं ?

उत्तर—मतिज्ञानावरणकर्म, श्रुतज्ञानावरणकर्म, अवधिज्ञानावरणकर्म तथा मन पर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जितना २ ज्ञानका विकास होता है उस विकासका नाम लब्धि है। और उस ज्ञानके व्यापारका नाम उपयोग है। जिस समयम आत्मा मतिज्ञानसे देखता है उसी समयम मति ज्ञान उपयोग रूप है और श्रुत, अवधि तथा मन पर्यय ज्ञान लब्धि रूप हैं, क्योंकि, एक समयम ज्ञानकी एकही पर्याय होती है एक साथम दो, तीन, चार पर्यायें नहीं होती हैं। इसी प्रकार जब आत्मा अवधि ज्ञान से देखता है उसी समय मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान लब्धि रूपम हैं, और अवधिज्ञान उपयोग रूप है। जिस समयम जीव मति ज्ञानका अवान्तर भेद चक्षु द्वारा देखता है, उसी समयमें चक्षु इन्द्रियम मतिज्ञान उपयोग रूप है और उसी समयम स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मनम मति ज्ञान लब्धि रूप हैं।

प्रश्न—जिस समयमें [illegible] औषधमें सुवासका
आस्वादन करता है उस समयमें आत्मा वर्तन वमान,
अर्थात् जड़ [illegible] करता है। उस समयमें क्या
आत्मा ज्ञान रहित हो जाता है?

उत्तर—औषधि जड़ वस्तु है, इसके जड़ इन्द्रियों
पर असर करनेसे जड़ इन्द्रियाँ जो आत्माको देखनेमें
निमित्त कारण थीं, उनके बिगड़नेसे निमित्तके अभावसे
आत्माका ज्ञान उपयोग रूप नहीं होता है, परन्तु उसी
समय आत्माका ज्ञान [illegible] होनेकी लब्धि रहा है। इसी
प्रकार चारों ही क्षयोपशम ज्ञानकी पराधीनता है।

प्रश्न—जिस प्रकार स्पर्शन इन्द्रियका क्षयोपशम
सम्पूर्ण आत्म प्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु
आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या सम्पूर्ण आत्म प्रदेशोंमें
उत्पन्न होता है, या प्रति नियत आत्म प्रदेशों में?
के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम होता है, [illegible] आत्मा-
नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मा के
सम्पूर्ण अवयवों से रूपादिकी उपलब्धि का प्रसंग आजा-
वेगा। यदि कहा जावे कि सम्पूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी
उपलब्धि होती है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि
सर्वांगसे रूपादिकका ज्ञान होता हुआ [illegible]

और यदि आत्माके प्रति नियत अवयवों में चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम माना जाय, तो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मानलेनेपर आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं, और चलाचल भी है, इस प्रकार वेदना प्राभृत के सूत्र से आत्मप्रदेशों का भ्रमण अवगत होजाने पर जीव प्रदेशों की भ्रमण रूप अवस्था में सपूर्ण जीवोंका अन्धपने का प्रसग आ जावेगा।

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके सपूर्ण प्रदेशों म क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकारकी है, क्योंकि आत्मा अखड द्रव्य है उसके असख्यात टुकड नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानलेने पर भी जीवके सपूर्ण प्रदेशोंक द्वारा रूपादिक की उपलब्धिका प्रसग भी नहीं आता है क्योंकि रूपादिकके ग्रहण करने म सहकारी कारणरूप बाह्य निवृत्ति जीवके सपूर्ण प्रदेशो में नहीं पाई जाती है (ध १-२३२)

शका—आत्माका प्रदेश कैसे घूमता है।

समाधान—जैसे पुतली गोल घूमती है इसी प्रकार आत्मा का प्रदेश घूमता है जैसे ज्योतिषचक्र मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता है वैसे ही आत्म प्रदेशो की प्रदक्षिणा देता है। ज्योतिषचक्र की और कर्मचक्रकी समान चाल है, इस से ही तो ज्योतिष विद्या द्वारा भूत भविष्यत् कर्मका किस १ उदय होगा यह कह सकते है।

अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ है। परमावधिज्ञानी जीव शुद्ध पुद्गल परमाणु को भी जान सकता है। अरूपी आत्म प्रदेशों के जानने की ताकत अवधिज्ञान में नहीं है।

मन पर्ययज्ञानका विषय स्थूल विकारी आत्मिक भावों को जानने का है। आत्माके प्रदेश एवं आत्मिक शुद्ध भाव देखने की मन पर्ययज्ञानमें भी शक्ति नहीं है।

प्रश्न—१ भव्यमयात्मा २ अभव्यमयात्मा दोनों अनादि मिथ्यादृष्टि हैं इन को मन पर्ययज्ञानी जान सकता है कि नहीं, कि इनमें भव्य कौन अभव्य कौन है?

उत्तर—यह मन पर्ययज्ञानी जान नहीं सकता है, क्योंकि मन पर्ययज्ञानका विषय विकारी भाव जाननेका है। भव्य और अभव्य भाव जीवका विकारी परिणाम नहीं है परन्तु यह तो पारिणामिक भाव है पारिणामिक भाव जानने की मन पर्ययज्ञान में शक्ति नहीं है।

शंका—अवधिज्ञानी जान सकता है या नहीं? क्योंकि अवधिज्ञानी तो एक शुद्ध पुद्गल परमाणुको जान सकता है तो कर्म प्रकृतिकी सत्ता द्वारा वह जान सकता है, कि किसके पासमें मिथ्यात्व कर्म की सत्ता है या नहीं है।

समाधान—उक्त दोनों जीव अनादि के मि... हैं, इस कारण दोनों के पास में मिथ्यात्व कर्म की

मोजूद है, और पारिणामिक भाव जाननेकी शक्ति अवधि-ज्ञानमें है नहीं, इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि में कौन भव्य और कौन अभव्य जीव है, इनको अवधिज्ञानी भी नहीं जान सकता है। अभव्य द्रव्य लिंगी के सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाता है वह मात्र केवल ज्ञानगम्य है क्षयोपशम ज्ञानी जान नहीं सकता है।

प्रश्न—दर्शन चेतना और ज्ञान चेतनामें भेद मालुम पड़ता नहीं है क्योंकि जिसके द्वारा देखा जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करनेपर ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक ही जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके होने में विरोध आता है।

शंका—यह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—त्रिकालविषयक अनन्त पर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने २ क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं।

शंका—अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और

पदार्थ को जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की व्याख्या के सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शन म एकता आजाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है।

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि जिस तरह ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेष रूप से प्रतिनियत कर्म की व्यवस्था होती है उस तरह दर्शन के द्वारा नहीं होती है, इस लिये इन दोनाम भेद है।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरग सामान्य और वहिरग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है तथा अन्त-र्बाह्य विशेषको ग्रहण करने वाला ज्ञान है ऐसा मान लेना चाहिये।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य अर्थात् आत्मा को अखड जानना कि जिस जानने में गुणगुणी भेद और गुण पर्यायभेद नहीं है ऐसा मात्र ज्ञायक स्वभाव अर्थात् चैतन्यपिन्ड, मात्र ज्ञानघन, को जानना दर्शन है, जो कि सम्यग्दर्शन का अर्थात् श्रद्धा का विषय है, तथा विशेषात्मक अर्थात् गुणगुणी भेद तथा गुणपर्याय भेद पाड़कर आत्मा को जानना वह ज्ञान है जो क्रमके विनाही अर्थात् एक समय में ही ग्रहण होता है।

शका—यदि सामान्य विशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा ऐसा मान लेने में

कोई विरोध नहीं आता।

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि छद्मस्थोंके दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग साथ नहीं होते, इसके साथ विरोध आता है।

शंका—छद्मस्थोंके एक साथ दोनों उपयोग क्यों नहीं होते ?

समाधान—छद्मस्थ जीवों के दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग होनेमें इन्द्रियां नियमसे निमित्त पड़ती हैं, इसलिये जब दर्शनचेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में निमित्त के अभाव के कारण ज्ञान चेतना लब्धिरूप रहती है, और जब ज्ञान चेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में दर्शनचेतना लब्धि रूप रहती है। इसलिये छद्मस्थ जीवों की चेतना पराधीन होने से एक साथ कार्य नहीं करती परन्तु क्रम से कार्य करती है।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ है और जो अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है। इस तरह केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य

को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात जब कि सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य वस्तुरूप से सिद्ध ही नहीं होते हैं, तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं?

शंका—यदि ऐसा है तो, प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय?

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा।

शंका—यदि प्रमेयादि सभी का ही अभाव होता है तो होवे।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमेयादि का अभाव देखने में नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और सामान्यविशेषात्मक आत्मस्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका—उक्त प्रकार से दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मानलेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है

दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचन के साथ विरोध आता है।

समाधान—एसा नहीं है, क्योंकि आत्मा सपूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारण रूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचन में सामान्य सत्ता को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य पदसे ग्रहण किया है। (ध १–१४६)

आत्मा में अनन्त गुण हैं सर्वगुण स्वतन्त्र परिणमन करते हैं कोई गुण किसी गुण के आधीन नहीं हैं। आत्मामें जितना गुण हैं उतनाही अगुरुलघु गुण हैं, इसी कारण कोइ गुण किसी गुण में मिल नहीं जाता है। यह अगुरुलघु गुण समय समयमें षट्गुणी हानि वृद्धि लिये आत्माके स्वरूपमें स्थिरताके कारण अगुरुलघु स्वभाव तिसका अविभाग अंश अति सूक्ष्म हैं। जो आगम कथितही प्रमाण करनेमें आते हैं। उन अगुरुलघु गुण अनन्त गुणोंके द्वारा जितने समस्त जीव हैं, तितने सब ही परिणमन करते हैं, अर्थात् एसा कोई जीव नहीं जो 'अनन्त अगुरुलघु गुण रहित हो, किन्तु सब जीवों में पाये जाते हैं। यह सब जीव प्रदेशों के द्वारा लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी हैं। अर्थात् एक एक जीवमें असंख्यात प्रदेश हैं। उन जीवोंमें से कितने ही जीव किसी एक प्रकार से दंडकपाटादि अवस्थाओं में तीनसो तेतालीस रज्जु प्रमाण घनाकाररूप समस्त लोकके

एक एक ही परमाणु रहे, तो लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण ही परमाणु होंगे, और शेष पुद्गलों का अभाव हो जावेगा। क्योंकि जिन पुद्गलोंको अवकाश नहीं मिला उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है। तथा उन लोक मात्र परमाणुओं के द्वारा कर्म शरीर घट-पट और स्तम्भादिका में एक भी वस्तु निष्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायका समागम हुए बिना एक अवसन्नासन्न संज्ञक भी स्कन्धका होना संभव नहीं है।

शंका—एक भी वस्तु निष्पन्न न होवे तो भी क्या हानि है?

समाधान—नहीं! क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त पुद्गलद्रव्य की अनुपलब्धि का प्रसंग आवेगा। तथा सब जीवोंके एक साथ ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रकार का अति प्रसंग दोष न होवे इसलिए अवगाह्यमान जीव और अजीव द्रव्यों की सत्ता अन्यथा न बनसकने से क्षीरकुम्भका मधु कुम्भके समान अवगाहन धर्मवाला लोकाकाश है ऐसा मानलेना चाहिये। (ध-४-२२)

प्रश्न—समुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर—मूल शरीर का अभाव किये बिना ही आत्म का मूल शरीर से बाहर निकल जाने को

समुद्घात कहते हैं ?

शंका—समुद्घात कितने प्रकारका होता है ?

समाधान—समुद्घात निम्न प्रकारके होते हैं। केवली समुद्घात, वैक्रियक समुद्घात, आहारक समुद्घात वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, तैजस समुद्घात।

शंका—वेदना समुद्घात तथा कषायसमुद्घात यह दोनों मारणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भूत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—वेदना समुद्घात और कषायसमुद्घात का मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्यों कि जिन्होंने परभव की आयु बान्धली है ऐसे जीवोंके ही मारणान्तिक समुद्घात होती है, किन्तु वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात बद्ध आयुष्क जीवोंके भी होती है, और अबद्धायुष्क जीवोंके भी होती है। मारणान्तिक समुद्घात निश्चय से आगे जहां उत्पन्न होना है उस क्षेत्रकी दिशा के अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातोंके इस प्रकार एक दिशामें गमन का नियम नहीं है। क्यों कि उनका दशा दिशाओंमें भी गमन होता है। मारणान्तिक समुद्घातकी लम्बाई उत्कृष्ट अपने उत्पद्यमान क्षेत्रक अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घात का यह नियम नहीं

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै सामान्य जीव अधिकार समाप्त हुआ।

प्रमाण, नय, निक्षेप, का स्वरूप

लोकके सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं अर्थात् अनत धर्मात्मक हैं। जब तक सामान्य और विशेषका ज्ञान न हो तब तक जीव पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये सामान्य तथा विशेषका ज्ञान करना इसीका नाम प्रमाण ज्ञान है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है। प्रमाण ज्ञान ही मोक्षमार्ग म साधक है। और मात्र सामान्य का अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करना इसीका नाम निश्चय नय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय है तथा विशेषका अर्थात् पर्यायका ज्ञान करना इसी का नाम व्यवहार नय है अर्थात् पर्यायार्थिकनय है। नय ज्ञान एकान्त ज्ञान है और प्रमाणज्ञान ही अनेकान्त है।

प्रश्न—पर्याय भी द्रव्य का भेद है, अवस्तुतो नहीं हैं उसे व्यवहार किस तरह कह सकते हैं ?

उत्तर—यह तो सत्य है, परन्तु यहां द्रव्य दृष्टिकर अभेद को प्रधान कर कथन किया जाता है इसलिये अभेद

दृष्टिमें भेद गौण करने से अभेद का ज्ञान अच्छी तरह
सकता है इस कारण भेद को गौण कर व्यवहार कहा
इसलिये मोक्ष मार्गमें प्रथम प्रमाण, नय और नि
का ज्ञान करना बड़ा ही आवश्यक है। प्रमाणादि श्रुतज्ञ
की ही पर्याय हैं।

प्रश्न—प्रमाणादिक का क्या स्वरूप है?

उत्तर—कहा भी है कि–

ज्ञानं प्रमाण मित्या हुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्ति तोऽर्थं परिग्रहम्॥

अर्थ—विद्वान लोग सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते
नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने को न्यास
निक्षेप कहते हैं। और ज्ञाता के अभिप्राय को नय क
हैं। इस प्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेप
द्वारा पदार्थ का ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये।
(व १–१७

प्रश्न—प्रमाण किसे कहते हैं?

उत्तर—निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्मा को प्रम
कहते हैं।

प्रश्न—प्रमाण दृष्टिकर आत्मा कैसा है?

उत्तर—यह आत्मा प्रमाण दृष्टिकर देखा जाय
एक कालमें अनेक अव्यवस्थारूप भी है, क्योंकि

दर्शन, ज्ञान और चारित्र कर तो तीनपना है और आप कर अपने एकपना है।

प्रश्न—प्रमाण और ज्ञान क्या भेद है ?

उत्तर—स्वगत अर्थात अपने वाच्यगत परिणामक जानने का कारण प्रमाण और इससे विपरीत भाव होता है। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद पाया जाता है।

प्रश्न—सकला देश किसे कहते हैं ?

उत्तर—"स्यादस्ति" अर्थात "कथंचित है" इत्यादि सात भंगोंका नाम सकला देश है, क्योंकि, प्रमाण निमित्तक होने से इनके द्वारा "स्यात्" शब्दसे समस्त अप्रधान भूत धर्मोंकी सूचना की जाती है। द्रव्य सप्त भंगीका नाम सकला देश है।

प्रश्न—विकला देश किसे कहते हैं।

उत्तर—'अस्ति' अर्थात् 'है' इत्यादि सात वाक्यों का नाम विकला देश है, क्योंकि वह नयोंसे उत्पन्न है। पर्याय सप्त भंगीका नाम विकला देश है। (व ९–१६५)

प्रश्न–निक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर—संशय विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तुको उनसे निकालकर जो निश्चयमें क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते हैं, अथवा अप्रकृत का निराकरण करके

करने का नाम नय है। प्रमाण से जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु का निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है।

प्रमाण ही नय है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर नयोंके अभाव का प्रसंग आता है। यदि कहा जाय कि नयों का अभाव हो जाय सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर देखे जाने वाले 'एकांत व्यवहार' के लोप होनेका प्रसंग आवेगा।

दूसरे 'प्रमाण' नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय 'अनेक धर्मात्मक' वस्तु है। न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि, उसका 'एकांत' विषय है। और 'ज्ञान एकान्तको' विषय करने वाला है नहीं, क्योंकि 'एकान्त निरूप' होने से 'अवस्तु' स्वरूप है, अतः वह कर्म नहीं हो सकता। तथा नय 'अनेकान्तको' विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि, 'अवस्तुमें वस्तुका' आरोप नहीं हो सकता।

अनुमान भी एकान्तको विषय नहीं करता जिससे कि उसे नय कहा जा सके, क्योंकि, वह भी उपर्युक्त न्यायसे 'अनेकान्तको' विषय करने वाला है। इसलिये 'प्रमाण' नय नहीं है, किन्तु प्रमाणसे जानी हुई वस्तु के एक देशमें

वस्तुत्वकी विवक्षाका नाम नय है यह सिद्ध हुआ। (ध. ९. १६२)

'नय का स्वरूप' —

'पुज्यपाद भट्टारक' ने भी सामान्य नय का लक्षण यही कहा है। वह इस प्रकार है'—

प्रमाणसे प्रकाशित त्रिकाटिक पदार्थों की पर्यायोंका प्ररूपण करने वाला नय है। इसीको स्पष्ट करते हैं– प्रकर्ष से अथवा संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मों को विषय करने वाला हो वह प्रमाण है। उससे प्रकाशित अर्थात् प्रमाण से गृहीत उन अस्तित्व, नास्तित्व व नित्यत्व, अनित्यत्वादि अनन्त धर्मादिक जीवादि पदार्थों के जो विशेष अथवा पर्याय हैं उनका प्रकर्ष से अर्थात् दोषों के सम्बन्ध से रहित होकर निरूपण करने वाला नय है तथा

'प्रभाकर भट्ट' ने भी कहा है कि प्रमाण के आश्रित परिणाम भेदोंसे वशीकृत पदार्थ विशेषोंक प्ररूपणमें समर्थ जो प्रयोग होते हैं वह नय है। उसको स्पष्ट करते हैं– जो प्रमाण के आश्रित है, तथा उसके आश्रय से होने वाले ज्ञाता के भिन्न भिन्न अभिप्रायोंके आधीन हुए पदार्थ विशेषों के प्ररूपण में समर्थ ऐसे प्रणिधान अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहारस्वरूप प्रयोक्ताका नाम नय है। वह नय

है, और द्रव्य पर्याय इन दोनों को ही नहीं छूता हुआ ऐसे शुद्ध वस्तु मात्र जीवके स्वभाव 'चैतन्य' मात्र का अर भव करने पर भेदरूप अभूतार्थ है 'असत्यार्थ' है।

प्रश्न—निश्चय नय किसको कहते हैं।

उत्तर—निश्चय नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है कि—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णं य णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥

अन्वयार्थ—(य) जो नय (आत्मानं) आत्मा को (अबद्धस्पृष्ट) बन्ध रहित परके स्पर्श रहित (अनन्य) अन्यपने रहित (नियत) चलाचलता रहित (अविशेष) विशेष रहित (असंयुक्त) अन्यके संयोग रहित ऐसे पांच भाव रूप (पश्यति) अवलोकन करता है (देखता) है (तं) उसे हे शिष्य ! तू (शुद्धनय) शुद्धनय (विजानीहि) जान।

जो निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त, ऐसा आत्मा का अनुभव करना वही शुद्ध नय है। यह अनुभूति निश्चयसे आत्मा ही है। ऐसा आत्मा ही एक प्रकाश मान हो वह निश्चयनय है।

प्रश्न—निश्चयनय कर आत्मा कैसा ?

उत्तर—निश्चयनय कर आत्मा का स्वरूप निम्न

रहा है। कहा है कि–

परमार्थेन तु व्यक्त ज्ञातत्व ज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वाद मेचकः ॥ १८ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय कर दिखा जाय तब प्रगट ज्ञायक ज्योति मात्र कर आत्मा एक स्वरूप है क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कर सभी अन्य द्रव्यों के स्वभाव तथा अन्यक निमित्त से हुये विभावों का दूर करने का स्वभाव है। इसलिये अमेचक है शुद्ध एकाकार है

प्रश्न—व्यवहार दृष्टिकर आत्मा कैसा है ?

उत्तर—व्यवहार दृष्टिकर देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभाव पनेसे अनेकाकाररूप है क्योंकि दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन भावोंसे परिणमता है । कहा भी है कि,

दर्शन ज्ञानचारित्रै स्त्रिभिः परिणतत्वत ।
एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

प्रश्न—दोनों नयों में कौनसा नय सत्य है ?

उत्तर—दोनों नय परस्पर विरोधी हैं । अर्थात् निश्चय नयकी अपेक्षा निश्चयनय सत्य है परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा निश्चयनय असत्य है । इसी प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षासे व्यवहारनय सत्य है परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय असत्य है । कहा भी है कि–

उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिन वचसि रमंत ये स्वयंवांतमोहा ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवम्
नयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥ (स—क)

अर्थ—निश्चय व्यवहार रूप जो दो नयके विषयके भेदसे आपसमें विरोध है, उस विरोधको दूर करनेवाला "स्यात्पदकर चिन्हित जो जिन भगवान का वचन उसमें जो पुरुष रमते हैं—प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं, वह पुरुष बिना कारण अपने आप मिथ्यात्व कर्मका उदय का वमन कर इस अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। कैसा है समयसार रूप शुद्ध आत्मा ? नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है, पहले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट व्यक्तिरूप व्यक्त हो गया है। फिर कैसा है ? सर्वथा एकान्तरूप कुनयकी पक्षकर खण्डित नहीं होता निर्बाध है।

प्रश्न—निश्चयनयको ही सत्यार्थ और व्यवहारनयको ही असत्यार्थ मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—शुद्ध नयको जो सत्यार्थ कहा है, इस कारण वह अशुद्धनय अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा नहीं समझलेना। ऐसा मानने से वेदान्त मतवाले संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त

पक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आजायगा। उस समय इस शुद्ध नयका भी अवलम्बन उन वेदान्तियों की तरह मिथ्यादृष्टि होजायगा। इसलिए सभी नयों को कथञ्चित रीति से सत्यार्थपने का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह स्याद्वाद को समझ जिनमतका सेवन करना मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष न पकड़ लेना।

प्रश्न—व्यवहारनय क्या अभूतार्थ ही है?

उत्तर—अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में अशुद्ध नय भी पर्यायार्थिक ही है, इसलिये व्यवहारनय है ऐसा आशय जानना। यहां ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप है। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं, वह वस्तुका सत्व है, परद्रव्य के संयोगसे ही हुआ भेद है। अशुद्ध नय को असत्यार्थ कहने से ऐसा तो नहीं समझना कि यह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं, आकाश के फूल की तरह है। ऐसा सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व आता है। इसलिए स्याद्वाद का शरण ले शुद्धनयका अवलम्बन करना चाहिये। स्वरूप की प्राप्ति होनेके बाद शुद्धनयका भी अवलम्बन नहीं रहता। जो वस्तु स्वरूप है वह यह प्रमाण दृष्टि है। प्रमाण दृष्टि का फल वीतरागता है ऐसा निश्चय करना योग्य है।

प्रश्न—व्यवहार नयको एकान्त असत्यार्थ मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—निश्चयनय तो जीव को शरीर और रागद्वेष मोहसे भिन्न कहती है। यदि इसका एकान्त किया जाय तब शरीर तथा रागद्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती है एसे राग द्वेष मोहसे बन्ध नहीं हो सकता है। इस तरह परमार्थ से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा। एसा एकान्त स्वरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान ज्ञान आचरण मिथ्या अवस्तु रूप है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है।

प्रश्न—दोनों नयोंमें कौनसा नय कार्यकारी है ?

उत्तर—अपने अपने पद में अर्थात् अपनी अपनी अपेक्षा में दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फल की एसी ही व्यवस्थिति है। जिससे तिरा जावे वह तीर्थ है एसातो व्यवहार धर्म है, और जो पार होना वह व्यवहार धर्मका फल है, अथवा अपना स्वरूपका पाना वह तीर्थ फल है। एसा ही दूसरी जगह कहा है कि—

जइ जिणमय पवज्जह तामा ववहारणिच्छए मुयए।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अन्नेण उण तच्च ॥

अर्थ—जो तुम जिनमत में प्रर्व

व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोडो क्योंकि एक व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ, व्यवहार मार्ग का नाश होजायगा। और दूसरी निश्चयनयके बिना तो (तीर्थफल) तत्त्व (वस्तुका) नाश हो जायगा।

प्रश्न—व्यवहारनय कब तक प्रयोजनवान है?

उत्तर—व्यवहारनय वीतराग दशा की जब तक प्राप्ति न हुई हो तब तक प्रयोजनवान है। कहा भी है कि—

व्यवहरणनय स्याद्यपि प्राक्पदव्यामिह
निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥५॥(स-क)

अर्थ—जो व्यवहार नय है वह यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई तब तक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को हस्तावलंब तुल्य कहा है, सो बड़ा खेद है। तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित परम 'अर्थ' (शुद्धनयका विषयभूत) को अन्तरंगमें अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं, तथा उस रूप लीन हुए चारित्र भावको प्राप्त होते हैं, उनको यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

प्रश्न—कौनसा नय मिथ्या और सत्य है।

उत्तर—व्यवहार अनेक प्रकार का है। १ सद्भूत [illegible] २ असद्भूत व्यवहार ३ असद्भूत अनउपचरित [illegible] ४ असद्भूत उपचरित व्यवहार।

प्रश्न—सद्भूत व्यवहार किनको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण हैं ऐसा कहना सद्भूत व्यवहार है। आत्मा में केवलज्ञान है, आत्मा के केवल दर्शन है आत्मा में अनन्तसुख है, आत्मा [illegible] है आत्मा सिद्ध है इत्यादि कहना सद्भूत व्यवहार है।

प्रश्न—असद्भूत व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में मति, श्रुति, अवधि, और मन पर्यय ज्ञान हैं। आत्मा में क्रोध मान माया और लोभ होता है इत्यादि कहना असद्भूत व्यवहार कहा जाता है?

प्रश्न—असद्भूत अनुउपचरित व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में छह पर्याप्ति होती हैं। आत्मा दश प्राणों से जीता है आत्मा ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों से बंधा है आत्मा कर्मों का कर्ता है। आत्मा देव मनुष्य तिर्यंच नारकी होता है। आत्मा औदारिक वैक्रियक, आहारक, कार्माण शरीर में रहता है। आत्मा एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय होता है, आत्मा

भले प्रकार सम्भव है।

शंका—चूंकि एकान्त अवस्तु स्वरूप है, तब वह व्यवहारका कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान—अवस्तु स्वरूप एकान्त सद्व्यवहार का कारण नहीं है, किन्तु उसका कारण प्रमाणसे विषय किया गया अनेकान्त है क्योंकि वह वस्तु स्वरूप है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर सब सद्व्यवहार का कारण नय कैसे हो सकता है ?

समाधान—कौन ऐसा कहते हैं कि नय सब सद्व्यवहारका कारण है। प्रमाण और प्रमाणसे विषय किए गए पदार्थ भी समस्त सद्व्यवहारका कारण हैं, किन्तु प्रमाण निमित्तक सब सद्व्यवहार नय स्वरूप हैं, ऐसा हम कहते हैं। क्योंकि सब सद्व्यवहारमें गौणता और प्रधानता पायी जाती है। अथवा प्रमाणसे नयोंकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि वस्तुके अज्ञात होने पर उसमें गौणता और प्रधानता का अभिप्राय बनता नहीं है और नयोंसे सद्व्यवहार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि अपने अभिप्राय के वश से एक व अनेक रूप व्यवहार पाया जाता है। इस कारण नय भी सद्व्यवहार का कारण है ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

शंका—सद्व्यवहार नय स्वरूप ही है, ऐसा क्यों है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है तथा अन्य

प्रकारसे व्यवहार करने के लिए और कोई उपाय नहीं है।
(ध ६-२३६)

प्रश्न—निश्चय तथा व्यवहार नय में किस प्रकारका विरोध है ?

उत्तर—व्यवहार नय कहता है कि जीव कर्मसे बंधा हुआ है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव कर्मसे बंधा हुआ नहीं है। इस तरह दो नयोंके दो पक्ष है। इस तरह दोनों नयों का जिसके पक्षपात है वह तत्ववेदी नहीं है। जो तत्ववेदी (तत्वका स्वरूप जानने वाला) है, वह पक्षपात से रहित है, नयमें खींचतान नहीं करता है, उनका पुरुषका चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र ही है उसमें पक्षपात से कल्पना नहीं करता। इसी प्रकार व्यवहार नय कहता है कि जीव मोही है तब निश्चयनय कहता है कि जीव मोही नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव रागी है जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव रागी नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव द्वेषी है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव द्वेषी नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव कर्ता है, जब निश्चयनय कहता है कि जीव कर्ता नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव भोक्ता है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव भोक्ता नहीं है व्यवहार नय कहता है कि जीव सूक्ष्म नहीं है जब कि निश्चय

नय कहता है कि जीव सूक्ष्म है। व्यवहारनय कहता है कि जीव अनेक है, जब कि निश्चयनय कहता है कि जीव एक है। व्यवहार नय कहता है कि जीव अनित्य है जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव नित्य है। व्यवहार नय कहता है कि जीव सान्त अर्थात् अंत सहित है, जब निश्चय नय कहता है कि जीव अंत रहित है। इसी प्रकार दोनो नयो मे पक्षपात है। जीव और पुद्गल कर्म के एक बंध पर्यायपने से देखा जाय अर्थात् संयोग सम्बन्धसे देखा जाय तो जीव बंधा ही है परन्तु जीव तथा पुद्गल कर्मके अनेक द्रव्य पनेकर देखा जाय अर्थात समवाय सम्बन्धसे देखा जाय तो जीव बंधा हुआ नहीं है, अत्यंत भिन्न है। इसी प्रकार दोनो नयो से देखना यही प्रमाण है। यही प्रमाण नय सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मात्र एक नयके ही पक्षवाले मिथ्यादृष्टि है। जो जीव नयके पक्षपात को छोड अपने स्वरूप में लिप्त हो कर निरंतर स्थिर होते हैं वही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शांत चित्त हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं अर्थात् वही जीव मोक्ष को पा सकते हैं। जो निश्चयकर जीव मे कर्म बंध हुए हैं ऐसा कहना तथा जीवमें कर्म नहीं बंधे हुए हैं ऐसा कहना यह दोनों ही विकल्प नय पक्ष है। जो इस नय पक्ष के विकल्पको उलंघ के वर्तता है अर्थात छोड़ता है वही समस्त विकल्पों

से दूर रहता है। वही आप निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभाव रूप होकर साक्षात् परमात्मा हो जाता है। प्रथम तो जो जीवमें कर्म बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह "जीव में कर्म नहीं बंधा है" ऐसा एक पक्ष को छोडता हुआ भी विकल्पको नहीं छोडता और जो जीवमें कर्म नहीं बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म बंधा है' ऐसे विकल्परूप एक पक्षको छोडता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता, और जो जीवमें कर्म बंधा भी है तथा नहीं बंधा भी है ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षको नहीं छोडता हुआ विकल्प को नहीं छोडता। इसलिये जो सभी नय पक्षको छोड़ता है वही समस्त विकल्पोंको छोडता है तथा वही आत्माको अनुभवता है।

प्रश्न—क्या व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ ही है?

उत्तर—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये किन्तु कथंचित् अर्थात् निश्चय की अपेक्षा से असत्यार्थ मानना चाहिये। क्योंकि जब एक द्रव्यको जुदा पर्याय से अभेदरूप असाधारण गुणमात्र को प्रधान कर कहा जाय तब परस्पर द्रव्योंका निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से हुई पर्यायें सब गौण हो जाती हैं। उस एक अभेद द्रव्य दृष्टिमें उनका प्रतिभास नहीं होता है इसलिये वह सब उस द्रव्य में नहीं है। इस तरह कथंचित्

निषेध किया जाता है। यदि उस द्रव्यमें कहा जाय तो व्यवहार नय से कह सकते हैं। ऐसा नय विभाग है। निश्चयनयकी दृष्टिसे रागादिक जीवका नहीं है, परन्तु व्यवहार नयकी दृष्टि से रागादिक जीवका ही है, जीवका ही अनन्य परिणाम है। निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टि से देखा जाय तो रागादिक जीवका ही है। यदि सर्वथा असत्यार्थ कहे तो सब व्यवहार का लोप हो जाय और तब मोक्षका भी लोप हो जाय। इसलिये जिन देवका उपदेश स्याद्वादरूप ही समझना सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त करना मिथ्यात्व है।

प्रश्न—नयोंका क्या सार है।

उत्तर—जो कर्म नयके अवलम्बनमें तत्पर हैं अर्थात् उसके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। जो ज्ञानको तो जानते ही नहीं और ज्ञान नयके पक्षपाती (इच्छुक) हैं वे भी डूबते हैं। जो क्रियाकाण्ड को छोड़ स्वछंद हैं, प्रमादी हुए स्वरूपमें मंद उद्यमी हों वे भी डूबते हैं। और जो आप निरंतर (हमेशा) ज्ञान रूप हुए कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश भी नहीं होते, स्वरूपमें उत्साहवान हैं वही जीव सब लोकके ऊपर तैरते हैं अर्थात् अपना कल्याणकर सिद्ध पदको पाते हैं—यही सार है।

...ऽ कितने प्रकार का है ?

उत्तर—व्यवहार अनेक प्रकारका है। १ सद्भूत व्यवहार २ असद्भूत व्यवहार ३ असद्भूत अनउपचरित व्यवहार ४ असद्भूत उपचरित व्यवहार।

प्रश्न—सद्भूत व्यवहार किसको कहते है ?

उत्तर—आत्मा मे दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण है ऐसा कहना सद्भूत व्यवहार है। आत्माम केवलज्ञान है, आत्मा मे केवल दर्शन है, आत्मा मे अनंतसुख है, आत्मा वीतरागी है, आत्मा सिद्ध है इत्यादि कहना सद्भूत व्यवहार है।

प्रश्न—असद्भूत व्यवहार किसको कहते है ?

उत्तर—आत्मा मे मति, श्रुति, अवधि, और मन पर्यय ज्ञान है। आत्माम क्रोध मान माया और लोभ होता है इत्यादि कहना असद्भूत व्यवहार कहा जाता है ?

प्रश्न—असद्भूत अनउपचरित व्यवहार किसको कहते है ?

उत्तर—आत्मा मे छह पर्याप्ति होती है। आत्मा दश प्राणों से जीता है आत्मा ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मको बाधता है अर्थात् कर्मका कर्ता है। आत्मा देव मनुष्य तिर्यंच नारकी होता है। आत्मा औदारिक वैक्रियक, आहारक, कार्माण शरीर म रहता है। आत्मा एकेंद्रिय द्वीद्रिय, त्रींद्रिय चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय होता है, आत्मा

मज्जी अमज्जी होता है, आत्मा में समचतुरस्र संस्थान आदि होता है, आत्मा में वज्रवृषभनाराच आदि संहनन होता है, आत्मा भोजन खाता है, आत्मा जल पीता है इत्यादि असद्भूत अनु-उपचरित व्यवहार से कहा जाता है।

प्रश्न—असद्भूत उपचरित व्यवहार किसको कहते हैं —

उत्तर—यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरे पुत्र है, यह मेरा मकान है, यह मेरी लक्ष्मी है, यह मेरी मित्र है, यह मेरा ग्राम है, केवली भगवान लोकालोकको देखता है इत्यादि असद्भूत उपचरित व्यवहार नय से कहा जाता है।

इसमें कौनसा व्यवहार अभूतार्थ है? विचार करना चाहिये। व्यवहार अपेक्षा से व्यवहार सत्य ही है। परन्तु निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार असत्य ही है। इसीप्रकार निश्चयकी अपेक्षा से निश्चय सत्य ही है परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय असत्य ही है। ऐसा ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। एकान्त नयवाद मिथ्यात्व है।

शंका—श्री पंचाध्यायी के प्रथम अध्याय की गाथा ५६७ म यह शरीर मेरा है, मैं कर्मों को बांधता हूँ, इत्यादिको नयाभास कैसे कहा?

समाधान—पंचाध्यायी प्रथम अध्याय गाथा ५२५

से व्यवहार नय का स्वरूप प्रतिपादन किया है। यह तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् समवाय सम्बन्ध से किया है इसी कारण संयोग सम्बन्ध को नयाभास कहा है। वहां तो एक ही द्रव्य का स्वरूप समझाने का अभिप्राय है। इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्यों के साथ में अर्थात् पुद्गलके साथमें आत्मा का संयोग सम्बन्ध है ही नहीं। एकसे संसार नहीं एवं विकार भी नहीं, जब तक संयोग सम्बन्ध है तबतक ही संसार है। सिद्ध में संयोग सम्बन्ध नहीं है, वहां संसार भी नहीं है। केवली परमात्मा में अभी संयोग सम्बन्ध है इसलिये वह संसारी ही है। यह तो कथन करने की शैली है। तादात्म्य सम्बन्ध से कथन करने मात्र से संयोग सम्बन्ध मिट नहीं जाता। पदार्थ का ज्ञान करनेके लिये ही नय ज्ञान है। यदि संयोग सम्बन्ध नहीं होता तो पंचाध्यायी के दूसरे अध्याय में भी नयाभास रूप संयोग सम्बन्ध क्यों स्वीकार किया? अमूर्त आत्मा मूर्तीक शरीर आदि से पागल क्यों बन जाता है? अमूर्त आत्मा भोजन सामग्री खाने से भूखके दुःखसे कैसे मुक्त हो जाता है? यदि आत्मा खाता नहीं है मात्र विकल्प ही करता है तो एक विकल्प ऐसा करले कि हमने भोजन खालिया इस विकल्पसे भूखका दुःख क्यों नहीं मिटा लेता। इससे सिद्ध हुआ कि जैसी अवस्था है तैसा ही ज्ञान करना सम्यक्

ज्ञान है। अनेक प्रकार से नय विभाग का कथन शास्त्रमें किया है इसलिये नयों का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में सर्व प्रथम जरूरी है।

आत्मा का व्यवहार आत्मा में ही होता है और पुद्गल का व्यवहार पुद्गल म ही होता है। आत्मा का व्यवहार पुद्गल में न होवे और पुद्गल का व्यवहार आत्मा में न होवे। आत्मा में जो पुण्य और पाप रूप भाव होता है वही आत्मा का व्यवहार है। ऐसा आत्मा का व्यवहार छोडना ही धर्म है। समयसार ग्रन्थ में भी यही बात बध अधिकार में कही है।जैसे—

सभी वस्तुओं में मन अध्यवसान अर्थात् रागादिक भाव हैं वह जिन भगवान ने त्यागने योग्य कहा है, क्यों कि वह आकुलता रूप ही है। सो सब भाव पर के आश्रय से प्रवर्तने वाले सभी व्यवहार छोडने लायक ही है। इस लिये सत्पुरुष है वह सम्यक् प्रकार एक निश्चय को ही अर्थात् ज्ञायक स्वभावी आत्म पिन्ड को जिस तरह हो सके उस तरह अंगीकार कर के शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्म स्वरूप महिमा में स्थिर होना यही परम धर्म है। यही सुख का मार्ग है। और सुख का मार्ग नहीं है।

शंका—पुण्य भाव में अर्थात् पूजा, गुरु भक्ति, पात्र-दान, आदि म तो सुख होता है?

है' ऐसा श्रद्धान करना। और कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है उस को 'ऐसे है नहीं' निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है। ऐसे श्रद्धान करना।

यह जो कथन है इस का इतना ही अर्थ लेना चाहिये कि संयोग संबध को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानना। संयोग संबध को तादात्म्य संबंध मानना मिथ्यात्व है, और तादात्म्य संबधको संयोग संबध मानना भी मिथ्यात्व है। संयोग संबधको संयोग नहीं मानना यह भी मिथ्या ज्ञान है। संयोग संबधको नहीं माननेसे सारा व्यवहार धर्मका नाश हो जावेगा। यही बात श्री समयसार ग्रन्थकी गाथा ४६ की टीका में विस्तार से लिखी है कि व्यवहार नय को न माने और परमार्थ नय जीवको, शरीर से भिन्न कहता है, उसका ही एकान्त किया जाय तो, त्रस स्थावर जीवोंका घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसाका अभाव है उसी तरह उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी किंतु हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब उनके घात होने से बंधका भी अभाव ठहरेगा। और उसी तरह रागी द्वेषी मोही जीव कर्मसे बंधता है, उसको छुड़ाना कहा गया है वह भी परमार्थ से रागद्वेष मोहसे जीव भिन्न दिखानेकर मोक्षके उपायका

उपदेश व्यर्थ हो जायगा तब मोक्ष का अभाव रहेगा। इसलिये व्यवहार नय अर्थात् संयोग द्वारा व्यवहार भी सत्यार्थ ही है।

यदि संयोग संबंध मिथ्या (गलत) ही है तो एक मिनिट अपना ही गला दबा कर प्रत्यक्ष अनुभव करलो, एक सुई को ही अपने शरीर में चुभाकर अनुभव करलो कि आत्मा नाच उठता है कि नहीं। यह तो अनुभव प्रसिद्ध है। तादात्म्य संबंध में भी व्यवहार होता है, पर संयोग संबंध में भी व्यवहार होता है। जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है जैसे —

आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र है ऐसा कहना भी व्यवहार है। आतमा में क्रोध, मान माया, लोभ है यह कहना भी व्यवहार है। आत्मा आंखों से ही देखता है यह कहना भी व्यवहार है। आत्मा आहार खाता है यह कहना भी व्यवहार है। केवली भगवान लोकालोक को देखते हैं यह कहना भी व्यवहार है। इनमें अमुक व्यवहार तादात्म्य संबंध से है और अमुक व्यवहार संयोग संबंध से है वैसा ही जानना सम्यग्ज्ञान है। विशेष कहां तक लिखें।

इति भेदज्ञान शास्त्रमय स्वरूप नय निक्षेप अधिकार पूर्ण हुआ।

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—पुद्गल द्रव्य का भेद दिखाया जाता है। पुद्गल द्रव्य के चार भेद हैं। १ स्कन्ध, २ स्कन्ध देश ३ स्कन्ध प्रदेश, इन तीन पुद्गल स्कन्धो म अनन्तानन्त भेद है, ४ परमाणु इस का एक ही भेद है। दृष्टान्त के द्वारा इस कथन को प्रकट कर दिखाया जाता है कि अनन्ता-नन्त परमाणुओ के स्कन्ध की निशानी अस्सी का अङ्क जानना। क्योंकि समझाने के लिए थोडासा गणित करके दिखाते हैं। ऐसे परमाणुओ को तो उत्कृष्ट स्कन्ध कहा जाता है। उसके आगे एक एक परमाणु घटाते जाना इकतालीस अङ्क ताई सो परमाणुओ का जघन्य स्कन्ध है। इसी प्रकार स्कन्ध के भेद एक एक परमाणु की कमी से अनन्त जानने। और चालीस परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्ध देश जानना। इक्कीस परमाणु का जघन्य स्कन्ध देश जानना। एक एक परमाणु की कमी से स्कन्ध देश का अनन्त भेद जानना। तथा वीस परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्ध प्रदेश जानना। दो परमाणु का जघन्य स्कन्ध प्रदेश जानना-एक एक परमाणु की कमी से स्कन्ध प्रदेश का अनन्तभेद

जानना। और एक परमाणु अविभागी है। इसमें भेद कल्पना नहीं है। यह चार प्रकार तो भेद के द्वारा जानना और ये ही चार भेद मिलाप के द्वारा भी गिने जाते हैं। मिलाप नाम संघात का है। दो परमाणु मिलने से जघन्य स्कन्ध प्रदेश होता है। इसी प्रकार एक एक परमाणु मिलाने से इन तीन स्कन्धों के भेद उत्कृष्ट स्कन्ध तक जानना। भेद संघात के द्वारा तीनों स्कन्धों के भेद परमागमम विशेषता कर गिने गए हैं। एक पृथ्वी पिन्ड मे चारों ही भेद होते हैं। सकलपिन्ड का नाम स्कन्ध कहा जाता है, आधेका नाम स्कन्ध देश, चौथाई का नाम स्कन्ध प्रदेश कहा जाता। अविभाग का नाम परमाणु कहा जाता है। इसी प्रकार खण्ड खण्ड करने पर भेदों से अनन्त भेद होते है। दोय परमाणु के मिलाप से लेकर सकल पृथ्वी खण्ड पर्यन्त संघात कर अनन्त भेद होते हैं। भेद संघातसे पुद्गल के अनन्त पर्यायें होती हैं। चार प्रकार के स्कन्धादि भेद कहे, इनमें पूरन गलन स्वभाव है, इस कारण इसका नाम पुद्गल कहा जाता है। जो बढ़े घटे तिनको पुद्गल कहते हैं। परमाणु जो है सो अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण के, भेदों से षट्गुणी हानि वृद्धि के प्रभाव से पुद्गल नाम पाता है। और इसी परमाणु मे किसी कालमें स्कन्ध होने की प्रगट शक्ति है। जो

हैं ते अनन्त परमाणु मिलकर एक पिण्ड अवस्था को करते हैं। इस कारण उनमें भी पूरन गलन स्वभाव है और उनका भी नाम पुद्गल कहा जाता है। वे पुद्गल ६ प्रकारके होते हैं, जिन पुद्गलों से तीन लोक निर्मापित है। वे ६ निम्न प्रकार हैं। १ बादरबादर। २ बादर। ३ बादर सूक्ष्म। ४ सूक्ष्म बादर ५ सूक्ष्म ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म ये छह प्रकार जानना।

जो पुद्गल दो खंड करने पर अपने आप फिर नहीं मिले एसे काष्ठ पाषाणादिकको बादर बादर कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध खंड खंड किये हुए अपने आप मिल जाय ऐसे दुग्ध, घृत, तैलादिक पुद्गलोंको को बादर कहते हैं। जो दीखने म तो स्थूल हो परन्तु खंड खंड करने म नहीं आवे, हस्तादिसे ग्रहण करने म नहीं आवे एसे धूप, चांदनी, छाया आदिक पुद्गल बादरसूक्ष्म कहलाते हैं। जो स्कन्ध हैं तो सूक्ष्म परन्तु स्थूल से प्रतिभासते हैं एसे स्पर्श, रस, गन्ध शब्दादिक पुद्गल सूक्ष्म बादर कहलाते हैं। जो स्कंध अति सूक्ष्म हैं, इन्द्रियोंसे ग्रहण करने म नहीं आते एसे जो कर्म वर्गणादिक हैं वह सूक्ष्म पुद्गल कहलाते हैं। जो कर्म वर्गणाओंसे भी अति सूक्ष्म द्वयणुक स्कंध ताई जे हैं, ते सूक्ष्म-सूक्ष्म कहलाते हैं।

समस्त स्कंधोंका जो अंत का भेद है (अविभाग खन्ड) है सो परमाणु कहलाता है वह परमाणु त्रिकाल अविनाशी

है। यद्यपि स्कंधो के मिलापसे एक पर्याय से पर्यायान्तर को प्राप्त होता है, तथापि अपने द्रव्यत्वकर सदा टंकोत्कीर्ण नित्य है। वह परमाणु शब्द रहित है, यद्यपि स्कन्ध के मिलापसे शब्द पर्याय को धरता है तथापि व्यक्तरूप शब्द पर्यायसे रहित है। परमाणु एक प्रदेशी है द्वयणुकादि रूप नहीं है। जिसका दूसरा भाग नहीं हो ऐसा निरंश है। परमाणु द्रव्य है उसमें स्पर्श रस गन्ध और रूप चार गुण हैं। इन चारोंही गुणो से परमाणु मूर्तीक कहलाता है। परमाणु निर्विभाग है क्योंकि जो प्रदेश आदि में है वह मध्य और अन्त में है इस कारण दूसरा भाग परमाणुका नहीं होता। द्रव्यगुणमें प्रदेश भेद नहीं होता इस कारण जो प्रदेश परमाणुका है वही प्रदेश स्पर्श रस गन्ध वर्णका जान लेना। ये चार गुण परमाणु में सदाकाल पाये जाते हैं, परंतु गौण मुख्य के भेद से न्यूनाधिक भी इन गुणों का कथन किया जाता है। पृथ्वी, जल अग्नि वायु ये चारों ही पुद्गल जाति के परमाणु से उत्पन्न हैं। इनके परमाणु की जाति जुदी नहीं है। पर्याय के भेद से भेद होता है। पृथ्वी जाति के परमाणुओं में चारों ही गुणों की मुख्यता है। जल में गंध गुणकी गौणता है, अन्य तीनों गुणोंकी मुख्यता है। अग्नि में गंध और रस की गौणता है, स्पर्श और वर्ण की मुख्यता है। वायु में तीनों गुणो की गौणता

है, स्पर्शगुण की मुख्यता है। पर्याय के कारण परमाणु में नाना प्रकार के परिणाम होते हैं। कहीं पर किसी एक गुण की प्रगटता अप्रगटता के कारण नाना प्रकार की परिणति को धारण करती है।

प्रश्न—जिस प्रकार परमाणुओं के परिणमनसे गधादिक गुण है उसी प्रकार शब्द भी प्रगट होता होगा?

उत्तर—परमाणु एक प्रदेशी है इस कारण शब्द प्रगट नहीं होता है। शब्द है वह अनेक परमाणुओं के स्कन्धों से उत्पन्न होता है इस कारण परमाणु अशब्दमय है।

द्रव्य कर्णेन्द्रिय से जो धुनि सुनी जाय उसे शब्द कहते हैं। वह शब्द अनन्त परमाणुओं का पिण्ड अर्थात् स्कन्धादि से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि जब परस्पर महास्कन्धों का सघट्ट होता है, तब शब्द की उत्पत्ति होती है। और स्वभाव से उत्पन्न अनन्त परमाणुओं का पिण्ड ऐसी शब्दयोग्य वर्गणा म परस्पर मिलकर इस लोक में सर्वत्र व्यापी (फैल) रही है। जहा जहा शब्दक उत्पन्न होने की बाह्य सामग्री का सयोग मिलता है तहां तहा वे शब्द योग्य वर्गणायें हैं सो स्वयमेव ही शब्द रूप होय परिणम जाती हैं। इस कारण शब्द निश्चय करके पुद्गलस्कंधो से ही उत्पन्न होता है। केई मतावलम्बी (वेदान्तादि) शब्द

[illegible]

[illegible] है। [illegible] शब्द हैं। [illegible] दो भेद हैं। १ प्रायोगिक २ वैस्रसिक। [illegible] तो [illegible]

[illegible] विस्त, घन सुसिरादिरूप उत्पन्न। [illegible] शब्द उन्हें कहते हैं जो [illegible] से उत्पन्न हों। [illegible] शब्द होत [illegible] दिकसे उत्पन्न होते हैं। घन शब्द [illegible] से उत्पन्न होता है। और जो [illegible] से उत्पन्न होता है सो [illegible]

कहलाता है। इस प्रकार यह चार भेद जानना और जो मेघादिक से उत्पन्न होते हैं वे वैश्रसिक अभाषात्मक शब्द हैं। यह समस्त प्रकार के शब्द पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न होते हैं ऐसा जानना।

एक शुद्ध पुद्गल परमाणु कैसा है, जो सदा अविनाशी है अपने एक प्रदेश कर रूपादिक गुणों से भी कभी त्रिकाल में रहित नहीं होता। फिर कैसा है? जगह देने के लिए समर्थ है, परमाणु के प्रदेश से जुदे नहीं ऐसा जो उसमें स्पर्शादि गुण उनको अवकाश देनेके लिये समर्थ हैं। फिर कैसा है? जगह देता भी नहीं अपने एक प्रदेशकर आदि मध्य अन्त में निर्विभाग एक ही है। इस कारण दो आदि प्रदेशों की समाई (जगह) उसमें नहीं है। इसलिये अवकाशदान देनेको असमर्थ भी है। फिर कैसा है। अपने एक ही प्रदेशसे स्कन्धोंका भेद करनेवाला है। जब अपने विघटनका समय पाता है उस समय स्कंध से निकल जाता है, इस कारण स्कंधका खंड करने वाला कहा जाता है। फिर कैसा है? स्कंधों का कर्ता भी है, अर्थात् अपना काल पाकर अपनी मिलन शक्ति से स्कंधों में जाकर मिल जाता है इस कारण इसको स्कंधों का कर्ता भी कहा गया है। फिर कैसा है? काल की संख्या का भेद करनेवाला है। एक आकासके प्रदेश में

रहनेवाले परमाणुको दूसरे प्रदेशमें मंदगति से गमन करते जो समय रूप काल परिणाम प्रगट होता है उसको भेद करता है, इस कारण काल अराका भी निमित्त कर्ता है। फिर यह परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की संख्या के भेदको भी करता है, सो दिखाया जाता है। यही परमाणु अपने एक प्रदेश परिमाण से दो आदि प्रदेशों से लेकर अनंत प्रदेश पर्यंत क्षेत्र संख्या का भेद करता है। फिर यही परमाणु अपने एक प्रदेश के द्वारा प्रदेशसे प्रदेशांतर गति परिणाम से दो समय से लेकर अनंत काल पर्यंत काल संख्या के भेदको करे है। फिर यही परमाणु अपने एक प्रदेश मे जो वर्णादिक भाव हैं, उसकी जघन्य उत्कृष्ट भेद से उस भेद संख्या को भी करता है। यह चार प्रकारका भेद भाव संख्या परमाणु जनित जान लेना। पुद्गल परमाणुओं में विशेष यह बात है कि जैसे आत्मा में भोगने की शक्ति है इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में भोगने की शक्ति नहीं है। एक शुद्ध पुद्गल परमाणु में रस गुण की एक, वर्ण गुणकी एक, गन्ध गुणकी एक और स्पर्श गुणमें से शीतरुक्ष, शीतस्निग्ध, उष्णस्निग्ध, उष्णरुक्ष इन चार युगलों में से कोई युगल रूप पर्याय होती है इस प्रकार एक परमाणु में पांच पर्याय जानना। यह परमाणु स्कन्ध म[illegible]पया हुआ शब्दपर्याय का कारण है, और

जब स्कन्ध से जुदा होता है तब शब्दसे रहित है। यद्यपि अपने स्निग्ध, रुक्ष पर्यायों का कारण पाकर अनेक परमाणु स्कंध परणति को धर कर एक होता है। तथापि अपने एक रूप से अर्थात् अपने अस्तित्व स्वभावको नहीं छोड़ता यह सदाही एक द्रव्य रहता है। जो पांच प्रकार इन्द्रियों के विषय, पांच प्रकार की इन्द्रियें, श्वासोच्छ्वास, द्रव्य मन, द्रव्य कर्म, नोकर्म, इनके सिवाय जो जो अनेक पर्यायों की उत्पत्ति के कारण नाना प्रकार की अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणायें हैं, अनन्ती असख्यातानुवर्गणा हैं, और अनन्ती वा असख्याती सख्यातानुवर्गणा हैं, दो अणुक स्कन्ध ताईं और परमाणु अविभागी इत्यादि जो भेद हैं वे समस्त ही पुद्गल द्रव्यमयी जानना।

शंका—जल पुद्गल द्रव्य है, शीतलता जलका गुण है, और गुणका कभी नाश होता नहीं, यह सिद्धांत है। जब जल उष्ण होता है तब शीतलता उसमें वर्तनम आती नहीं तो क्या शीतलता गुणका नाश हो गया ?

समाधान—जल पुद्गल द्रव्य नहीं है, वह तो उपचारिक द्रव्य है, यथार्थ में जल पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। शीतलता जलका गुण नहीं है परन्तु वह स्पर्श नामक गुण की पर्याय है, तो भी वह पर्याय सदा रहती है। इसलिए उपचार से उसको गुण कहा जाता है। जिस काल

में जल उष्ण हुआ उसी कालमें शीतलता का नाश होजाता है, क्योंकि एक साथ दो पर्याय कभी रह नहीं सकती हैं। जिस काल में जल उष्ण हुआ उसी कालमें स्पर्श नामका गुण कायम है। शीतल पर्याय का नाश हुआ उष्ण पर्याय की उत्पत्ति हुई और स्पर्श नामका गुण ध्रुव है। इसी प्रकार ज्ञान करना चाहिये। उसी प्रकार अग्नि-सोना आदि पुद्गल द्रव्य नहीं हैं परन्तु पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं। यह तो उपचार से द्रव्य कहा जाता है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र विषै पुद्गलास्तिकाय व्याख्यान पूर्ण हुआ।

धर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—धर्मास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप ?

उत्तर—धर्मद्रव्य जो है सो काय सहित प्रवर्ते है। धर्मद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण गुणों से रहित है इस कारण अमूर्तिक है। क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवती वस्तु सिद्धान्त में मूर्तिक कही है। यह चार गुण जिसमें नहीं हैं उसी का नाम अमूर्तिक है। इस धर्मद्रव्य में शब्द भी नहीं है। क्योंकि शब्द भी मूर्तिक होते हैं। इस कारण शब्द पर्याय से रहित है। लोक प्रमाण

असंख्यात प्रदेशी है। यद्यपि अखंड द्रव्य है परन्तु भेद दिखाने के लिए परमाणुओं द्वारा असंख्यात प्रदेशी गिना जाता है। धर्मद्रव्य सदा अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तु है, यद्यपि अपने अगुरुलघु गुणसे षट्गुणी हानिवृद्धि रूप परिणमता है, परिणाम से उत्पाद व्यय संयुक्त है, तथापि अपने ध्रौव्य स्वरूप से चलायमान नहीं होता, क्योंकि द्रव्य वही है जो उपजे, विनसे और स्थिर रहे। इस कारण यह धर्म द्रव्य, अपने ही स्वभाव में परिणमे है और जीव तथा पुद्गल को उदासीन अवस्था से निमित्तमात्र गति को कारणभूत है। और यह अपनी अवस्था से अनादि अनन्त है, इस कारण कार्य रूप नहीं है। कार्य उसे कहते हैं जो किसी से उपजा होय। गति को निमित्त कारक सहायी है, इसलिये यह धर्मद्रव्य कारणरूप है किन्तु कार्य नहीं है। जैसे जल मछलियां के गमन करते समय न तो आप उनके साथ चलता है, और न मछलियां को जबरदस्ती चलाता है, किंतु उनके गमन को निमित्त मात्र सहायक है। ऐसा ही कोई एक स्वभाव है। जल मछली को जबर दस्ती चलाता नहीं है, मछली अपनी शक्ति से ही चलती है तो भी, जल बिना चल नहीं सकती। इसी प्रकार, जीव और पुद्गल को धर्म द्रव्य जबरदस्ती से चलाता नहीं है, जीव और पुद्गल अपनी २ शक्ति से ही चलते हैं, तो भी

धर्म द्रव्यबिना चल नहीं सकते। धर्म द्रव्य तो उदासीन हैं परन्तु कोई ऐसा ही एक अनादि निधन स्वभाव है कि जीव पुद्गल गमन करें तो उनको निमित्त मात्र सहायक होता है। यह धर्म द्रव्य का स्वरूप हुआ।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—अधर्मास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—अधर्म द्रव्य अपनी सहज अवस्था से अपने असख्यात प्रदेश लिये लोकाकाश प्रमाणता से अविनाशी हैं, अनादि कालसे तिष्टै है उसका स्वभाव भी जीव पुद्गल की स्थिरता को निमित्तमात्र कारण है। परन्तु अन्य द्रव्य को जबरदस्ती नहीं ठहराता। जैसे भूमि अपने स्वभाव ही से अपनी अवस्था लिये पहिले ही तिष्टै है स्थिर है और घोड़ादि पदार्थों को जोरावरी नहीं ठहराती। घोड़ादि जो स्वय ही ठहरना चाहें तो पृथ्वी सहज अपनी उदासीन अवस्था से निमित्त मात्र स्थिति मे सहायक है। उसी प्रकार आपही से जो जीव पुद्गल द्रव्य स्थिर अवस्था रूप परिणमे तो अधर्म द्रव्य अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्था से निमित्त मात्र सहायक होता है। जैसे धर्म द्रव्य निमित्त मात्र गति को सहायक है, उसी प्रकार अधर्म

द्रव्य स्थिरता को उदासीन सहकारी कारण जानना।

शंका—धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थिति को कारण नहीं है, परन्तु आकाश द्रव्य ही गमन स्थिति को कारण है ? धर्म अधर्म द्रव्य नहीं है ?

समाधान—धर्म, अधर्म द्रव्य अवश्य है। जो यह दोनों द्रव्य नहीं होते तो लोक अलोक का भेद नहीं होता। धर्म अधर्म द्रव्यसे ही लोक अलोकका भेद होता है। लोक उसको कहते हैं जहां जीवादिक समस्त पदार्थ बसते हों। जहां एक आकाश ही है सो अलोक है। इस कारण जीव पुद्गलकी गति स्थिति लोकाकाश में है, अलोकाकाश में नहीं है। जो इन धर्म अधर्म द्रव्य का गति स्थिति निमित्त का गुण नहीं होता तो लोकालोक का भेद नहीं होता। जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य गति स्थिति अवस्था को करते हैं इनकी स्थिति गति का बहिरंग कारण धर्म, अधर्म द्रव्य लोक में ही हैं। जो यह धर्म अधर्म द्रव्य लोक में नहीं होते तो लोक अलोक का भेद नहीं होता, सब जगह ही लोक होता। इस कारण धर्म अधर्म द्रव्य अवश्य है। जहां तक जीव पुद्गल गति स्थिति को करते हैं वहां तक लोक है, उससे परे अलोक जानना।

यह धर्म अधर्म द्रव्य दोनों ही अपने २ प्रदेशों को

लिये हुये जुद जुदे हैं। एक लोकाकाश द्रव्य के प्रदेश जुद जुदे नहीं हैं, क्योंकि, लोकाकाश के जिन प्रदेशों में धर्म द्रव्य है, उन ही प्रदेशों में अधर्म द्रव्य भी है। दोनों ही हलनचलन रूप क्रियासे रहित है। परन्तु सब लोक व्यापी है। समस्त लोक व्यापी जीव पुद्गलों की गति स्थिति को सहकारी कारण है, इस कारण दोनों ही द्रव्य लोक मात्र असख्यात प्रदेशी है। धर्म अधर्म द्रव्य, जीव पुद्गलकी गति स्थिति का प्रेरक कारण नहीं है, परन्तु उदासीन कारण हैं। जैसे पवन अपने चपल स्वभाव से ध्वजाओं की हलन चलन क्रिया का प्रेरक कारण देखने मे आता है, अर्थात् जिस दिशा म पवन चलेगी उस ही दिशा मे नियम से ध्वजा हलन चलन क्रिया करेगी, ऐसे ही धर्म द्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं है। धर्म द्रव्य जो है सो आप स्वय हलनचलन रूप क्रियासे रहित है, किसी काल म आप गति परणति से (गमनक्रियासे) नहीं करता। इस कारण जीव पुद्गल की गति परणतिका सहायक किस प्रकार होता है? उसका दृष्टान्त देते है। जैसे निष्कम्प सरोवर में जल मछलियो की गति म सहकारी कारण है, स्वय प्रेरक होकर मछलियों को जल में नहीं चलाता, परन्तु मछली अपनी शक्ति से ही चलती है, जल बिना चल नहीं सकती, उसी प्रकार जीव पु-

अपनी शक्ति से ही चलते हैं धर्म द्रव्य चलाता नहीं, किन्तु जैसे जल बिना मछली चल नहीं सकती, उसी प्रकार धर्म द्रव्य बिना जीव पुद्गल चल नहीं सकते। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी निमित्त मात्र है। जैसे घोडा प्रथम ही गति क्रिया को करके फिर स्थिर होता है, सवारकी स्थिति का कर्ता दरखत है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य प्रथम आप चलकर पुद्गलकी स्थिर क्रिया का कर्ता आप नहीं है, किंतु आप निष्क्रिय है, इस कारण गति पूर्व स्थिति परिणाम अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। यदि पर द्रव्य की क्रिया से उसकी गति पूर्व क्रिया नहीं होती तो किस प्रकार स्थिति क्रिया का सहकारी कारण होता है ? भूमि चलती नहीं परन्तु गति क्रिया करने वाले घोड़े की स्थिति क्रियाको सहकारिणी है। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थिति को उदासीन अवस्थामें स्थितिक्रिया का सहायी है। बस, अधर्म द्रव्य, जीव पुद्गल की गति स्थिति का उपादान कारण नहीं हैं, परन्तु उदासीन भाव से निमित्त कारण मात्र कहा जाता है। यदि यह धर्म अधर्म द्रव्य मुख्य कारण अर्थात् उपादान कारण होकर जबरदस्ती से जीव पुद्गलको चलाते और स्थिर करते तो सदाकाल जो चलते वही चलते ही रहते, और जो स्थिर रहते वे सदा काल स्थिर ही रहते इस कारण धर्म अधर्म द्रव्य मुख्य

कारण नहीं है यह बात सिद्ध हुई। व्यवहारनयकी अपेक्षा उदासीन अवस्था से निमित्त कारण है। निश्चय करके जीव पुद्गल की गति स्थिति का उपादान कारण अपने ही परिणाम हैं। यह अधर्मास्तिकायका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

आकाशास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—आकाशास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—आकाश द्रव्य अखण्ड है परन्तु लोक अलोक के भेदसे दो प्रकार का है। लोकाकाश उसे कहते हैं जो जीवादि पाचों द्रव्य जितना आकाश क्षेत्रम हैं। उसीका नाम लोकाकाश है। और अलोकाकाश है जहा पर केवल एक आकाश ही है। यह अलोकाकाश एक द्रव्य की अपेक्षा से लोकसे जुदा नहीं है, और वह अलोकाकाश पाच द्रव्यो से रहित है, इस अपेक्षा लोकसे तब जुदा है। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशी है।

शका—लोकाकाशका क्षेत्र असख्यात प्रदेशी है उसमें अनन्त जीवादि पदार्थ कैसे समा रहे हैं।

समाधान— एक घरम जिस प्रकार अनेक दीपकों

का प्रकाश समा रहा है, और जिस प्रकार एक छोटेसे गुटके में बहुतसी सुवर्ण की राशी रहती है उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी आकाशमें सहज ही अवगाहना स्वभावसे अनन्त जीवादि पदार्थ समा रहे हैं। वस्तुओं के स्वभाव वचनगम्य नहीं हैं, सर्वज्ञ देवही जानते हैं, इस कारण जो अनुभवी हैं वे सन्देह उपजाते नहीं वस्तुस्वरूप में सदा निश्चल होकर आत्मिक अनन्त सुख अनुभव हैं।

प्रश्न—धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थितिके कारण क्या कहाते हैं आकाश को ही गति स्थिति में कारण क्योंनहि माना जावे ?

उत्तर— जो गमन स्थिति का कारण आकाश को ही मान लिया जावे तो धर्म, अधर्म द्रव्यके अभाव होनेसे मुक्त जीवों का अर्थात् सिद्ध परमेष्ठियों का अलोकाकाश में भी गमन होता। इससे साबित होता है कि धर्म-अधर्म द्रव्य अवश्य है। उससे ही लोककी मर्यादा है। लोक के आगे गमन स्थिति नहीं है।

धर्म-अधर्म और आकाश यह तीनों ही द्रव्य एक क्षेत्रावगाह कर एक हैं परन्तु निज स्वरूप से तीनों पृथक् २ हैं। यह तीनों द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा एक क्षेत्राव- गाही हैं, अर्थात् जहां आकाशद्रव्य है वहां ही धर्म, और अधर्मद्रव्य है। कैसे हैं यह तीनों द्रव्य, बराबर हैं, असं-

ख्यात प्रदेश वाले हैं। फिर कैसे हैं? निश्चयनयकी अपेक्षा भिन्न २ पाये जाते हैं, अर्थात् निज स्वभाव से टंकोत्कीर्ण अपनी जुदी जुदी अवस्था लिये हुए हैं, अत-एव ये तीनों ही द्रव्य व्यवहार की अपेक्षा एक क्षेत्रावगाही हैं, इस कारण एक भावको और निश्चयनयकी अपेक्षा यह तीनों अपनी जुदी २ सत्ता के द्वारा भेदभाव को करते हैं। इस प्रकार इन तीनों द्रव्यों के व्यवहार निश्चयनयसे अनेक प्रकार जानने।

प्रश्न—क्षेत्र कितने प्रकार का है?

उत्तर—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकार का है। अथवा प्रयोजन के आश्रयसे क्षेत्र दो प्रकारका है। लोकाकाश, अलोकाकाश। अथवा देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकार का है। मदराचलकी चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र उर्ध्व-लोक है। मदराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। मदराचलसे परिछिन्न अर्थात तत्प्रमाण मध्यलोक है।

इस प्रकार आकाशास्तिकाय द्रव्यका स्वरूप पूर्ण हुआ।

काल द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—काल द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो क्रमसे अति सूक्ष्म हुआ प्रवर्ते है वह तो व्यवहार काल है, और उस व्यवहार कालका जो आधार

है वह निश्चयकाल द्रव्य है। यद्यपि व्यवहार काल है सो निश्चय काल की पर्याय है, तथापि जीव पुद्गलों के परिणामों से यह जाना जाता है। इस कारण जीव पुद्गलों के नव जीर्णतारूप परिणामों से उत्पन्न हुआ कहा जाता है और जीव पुद्गलका जो परिणमन है सो बाह्य में द्रव्य काल के होते सन समय पर्याय में उत्पन्न है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि समयादि रूप जो व्यवहार काल है सो तो जीव पुद्गलों के परिणामों से प्रगट किया जाता है, और निश्चय काल जो है सो समयादि व्यवहार काल से अविनाभाव से अस्तित्व को धरे है, क्योंकि, पर्याय से पर्यायीका अस्तित्व ज्ञात होता है। इनमें से व्यवहार काल क्षण विनश्वर है, क्योंकि पर्याय स्वरूपसे सूक्ष्म पर्याय उतने मात्र ही है, जितने कि समयावलिकादि है और निश्चय काल जो है सो नित्य है, क्योंकि अपने गुण पर्याय स्वरूप द्रव्य से सदा अविनाशी है।

जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश इन पांचों द्रव्यों में गुण पर्याय है, और जैसा इनका सत् द्रव्य लक्षण है, तथा इनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण भी है, वैसे ही गुण पर्यायादि द्रव्य का लक्षण कालद्रव्य में भी है, इस कारण कालका नाम भी द्रव्य है।

काल और अन्य पांचों द्रव्यों की द्रव्य सत्ता तो समान

है, परन्तु जीवादि पाच द्रव्यो की काय नमा है, क्योंकि, काय उसको कहते हैं, जिसके बहुत से प्रदेश होते हैं जीव, धर्म, अधर्म और लोकाकाश इन चारो द्रव्योंके असख्यात प्रदेश हैं, पुद्गलके परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी हैं, तथापि पुद्गलोंमे मिलन शक्ति है इस कारण पुद्गल सख्यात, असख्यात तथा अनन्त प्रदेशी हैं। परन्तु काल द्रव्य के बहुत प्रदेशरूप काय भाव नही है।

कालाणु एक प्रदेशी है, लोकाकाश के असख्यात प्रदेश है इतना ही असख्याती कालाणु है सो लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु रहता है।

शका —काल किससे किया जाता है अर्थात् कालका साधन क्या है ?

समाधान—परमार्थ कालसे काल, अर्थात् व्यवहार काल निष्पन्न होता है।

शका—काल कहां पर है, अर्थात् कालका अधिकरण क्या है ?

समाधान—त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायो से परिपूरित एक मात्र मानुषक्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमडल मे ही काल है, अर्थात् कालका आधार मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमडल है।

दिन रात्रि रूप कालका अभाव

है। और जब काल पाय कर पुद्गलमयी कर्म नोकर्मका अभाव होता है तब निष्क्रिय निष्कप स्वाभाविक अवस्थारूप सिद्ध पर्याय को धरता है। इस कारण पुद्गल को ही निमित्त पाकर जीव क्रियावान जानना। और काल द्रव्य का कारण पाकर पुद्गल अनेक स्क धरूप विकार को धारण करता है। इस कारण काल पुद्गल की क्रिया को सहकारी कारण जानना परन्तु इतना विशेष है कि जीवद्रव्य की तरह पुद्गल निष्क्रिय कभी भी नहीं होता। जीव शुद्ध हुए बाद क्रियावान किसी कालमे भी नहा होगा। पुद्गल का यह नियम नहीं है। सदा क्रियावान पर सहाय से रहता है।

शका—तब जीवका उर्ध्वगमन स्वभाव क्यो कहा ?

समाधान—गमन करना जीव का स्वभाव नहीं है परतु विभाव भाव है। जिस जीव को उत्पाद व्यय के स्वरूप का ज्ञान नहीं है एसा वेदान्तमतावलम्बी ने प्रश्न किया कि जब आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त हो गया तब अधोलोक की ओर गमन न करके उर्ध्व लोक की ओर गमन क्यो किया ? एसे जीव को समझाने के लिये उपचार से कह दिया कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। एसा कह कर समझाने के लिए उपचार से उदाहरण के लिये सूत्र भी बना दिया कि—

आविद्धकुलाल चक्रवद् व्यपगतलेप पालाम्बुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च ॥ (१०|७)

परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं। यह तो समझाने के लिए मात्र उपचार से कहा है। जैसे जल पुद्गल की पर्याय है, तथा अग्नि भी पुद्गल की पर्याय है। दोनों में क्रियावती शक्ति है और वह शक्ति दोनों में विकारी है। तो भी समझाने के लिए उपचार से जल और अग्नि में द्रव्य का उपचार कर कह दिया कि–

को गिरावत है नीर को, नीचे को ढल जाय।
अग्नि शिखा ऊँचि चले, यही अनादि स्वभाव॥

विचारिये दोनों में क्रियावती शक्ति विपरीत परिणमन कर रही है। यथार्थ से विचारा जावे तो दोनोंमें क्रियावती शक्ति विकारी परिणमन कर रही है किसको स्वभाव शक्ति कहोगे? इसी प्रकार आत्मा का उर्ध्वगमन स्वभाव नहीं है परन्तु उदाहरण के लिए उपचार से कहा है। गमन करना ही आत्मा का विकारी परिणमन है। तब प्रश्न यह रहता है कि मुक्त आत्माने उर्ध्वगमन कैसे किया? कर्मका तो अभाव हो गया है। तब विकारी परिणमन भी कह सकते नहीं। तब यथार्थ में क्या है?

समाधान—जिसको आप गमन देखते हो वह तो संसार की व्यय पर्याय है और उत्पाद पर्याय सिद्ध पर्याय

है। जैसे एक पुद्गल परमाणु सप्तम नरकसे ऋजुगति से तीव्रगति से गमन करे तो एक समय म लोक के अग्रभाग तक चौदह राजू जाता है। वहाँ विचारिये कि वह परमाणु की व्यय पर्याय कहा तक मानी जावगी? और उत्पाद पर्याय कहाँ मानी जावेगी? लोक के अग्र भाग म उत्पन्न होना वही उत्पाद पर्याय है, और बाकी की व्यय पर्याय है।

जैसे एक आत्मा ग्यारहवे गुण स्थानसे गिर कर एक समय म मिथ्यात्व गुणस्थानम आता है। वहा ग्यारह गुणस्थान की व्यय पर्याय कहा तक मानी जावगी और मिथ्यात्व की उत्पाद पर्याय कहा से मानी जावगी?

इसका विचार करने से आपसे आप मालूम हो जावगा कि चौदहवाँ गुणस्थान का त्याग सो व्यय पर्याय है और सिद्ध पद की प्राप्ति अर्थात् लोक के अग्रभाग म स्थिर होना उत्पाद पर्याय है। इससे सिद्ध हुआ कि उर्ध्व गमन आत्माका स्वभाव नहीं है परन्तु विभाविक अवस्था है

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै क्रियावान द्रव्य का स्वरूप पूर्ण हुआ।

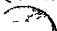
जीवों का विशेष स्वरूप

अनादि कालसे जीव मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत भावों के कारण से चार गति रूपी संसार में भ्रमण कर रहा है और अपना स्वभाव का ज्ञान नहीं होनेसे दुःखी हो रहा है।

प्रश्न—अज्ञान किसको कहते हैं।

उत्तर—अज्ञान का अर्थ ज्ञान नहीं होना, या, कम ज्ञान होना, यह अर्थ नहीं लेना चाहिये, क्योंकि, ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव भाव है और स्वभाव बन्धका कारण हो जावे तो आत्मा संसार से कभी छूट या मुक्त नहीं हो सकता है। बन्धका कारण मिथ्यात्व और कषाय भाव हैं। अज्ञान का अर्थ कषाय सहित ज्ञानोपयोग करना चाहिये। ज्ञानका कार्य घूमना नहीं है परन्तु स्थिर रहकर देखना है, किन्तु अनादि कालसे ज्ञान के इच्छाएं लगी हैं इस इच्छा के कारण ज्ञान घूमता है, इन इच्छाओं के मिटजाने से ज्ञान आपसे आप स्थिर होजावेगा, जिससे तुरन्त ज्ञान केवलज्ञानरूप प्रकट होजावेगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों ही का जब एकबार परिणमन होता है तब मोक्षका मार्ग होता है। चारित्र वही है जो दर्शन ज्ञान



दर्शन ज्ञानके बिना जो चारित्र है, सो मिथ्याचारित्र है चारित्र नही है जो रागद्वेष रहित समता रससपूर्न हो। जे कषाय रस गर्भित है सो चारित्र नहीं है सक्लेश भाव है ऐसा चारित्र है सो साक्षात् मोक्ष स्वरूप है।

जीवों के अनादि अविद्या के प्रतापसे पदार्थों की विप रीत श्रद्धा है। जब आगम द्वारा यथार्थ ज्ञान कर मिथ्यात नष्ट होय तब यथार्थ प्रतीति होय उसीका नाम सम्यग्दर्श है। यही सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म पदार्थ निश्चय करने का बीज भूत है। यथार्थ ज्ञान का ना सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान आत्मतत्त्व अनुभव प्राप्तिका मूल है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन की प्रवृति प्रभावसे समस्त कुमार्गों से निवृत होकर आत्मस्वरूप लीन होय, इन्द्रिय मनके विषय भूत बाह्य पदार्थों में रा द्वेष रहित जो साम्य भावरूप निर्विकार चैतन्य परिणा अर्थात् वीतराग भाव है सो ही चारित्र है।

आगम द्वारा सयोग सम्बन्ध से जीवका क्या स्वरू है यह जानने की बड़ी जरूरत है क्योंकि निश्चय मे जीव अरूपी है इसलिये चक्षु इन्द्रिय द्वारा देख नहा सक है तो भी सयोग द्वारा इसका स्वरूप जाना जाता है। इ लिये सयोगी स्वरूप जानना बड़ा आवश्यक है।

१ एकेन्द्रिय जीव, २ द्वीन्द्रियजीव, ३ त्रीन्द्रियजीव, ४ चौइन्द्रियजीव, ५ पचेन्द्रियजीव। जीव दो प्रकारका भी कहा जाता है। १ स्थावरजीव, २ त्रसजीव। जिसको स्थावरनामा नामकर्म का उदय है वह स्थावरजीव है। जिसको त्रसनामा नाम कर्मका उदय है वह त्रस जीव है। एकेन्द्रियको स्थावर जीव कहते हैं। स्थावर जीव पाच प्रकार का है। पृथिवीकायिक, २ जलकायिक ३ अग्नि कायिक, ४ वायु कायिक, ५ वनस्पति कायिक। इन पाच प्रकार के स्थावर जीव म भी दो भेद है। १ सूक्ष्म जीव, २ वादर जीव।

प्रश्न—सूक्ष्म जीव किसको कहते है?

उत्तर—जिसको सूक्ष्मनामा नामकर्म का उदय है वह सूक्ष्म जीव है। जिसको गमन करने म कोई रोक सकता नहीं एव जो किसी से रुका जाता नहीं है। जो काटने से कटा नहीं जाता। जलने से जल नहीं सकता। मारने से मारा नहीं जाता। ऐसे जीवो का नाम सूक्ष्म जीव है।

प्रश्न—वादरजीव किसको कहते है?

उत्तर—वादरनामा नामकर्मका जिसको उदय हो वह वादर जीव है। जिसका गमन दूसरे के द्वारा रोका जावे उसका नाम वादर जीव है।

शंका—तो फिर उस अर्धपुद्गल परावर्त्तन काल को अनन्त संज्ञा कैसे दी गई है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अर्धपुद्गलरूप परिवर्तन कालको जो अनन्त संज्ञा दी गयी है, वह उपचार निमित्तिक है। आगे उसीका स्पष्टीकरण करते हैं। अनन्तरूप केवल ज्ञानका विषय होने से अर्धपुद्गल परिवर्त्तन काल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है।

शंका—केवलज्ञानके विषयत्व के प्रति कोई विशेषता न होने से सभी संख्याओं में अनन्तत्व प्राप्त हो जावेगा?

समाधान—नहीं क्योंकि, जो संख्यायें अवधिज्ञान का विषय हो सकती है, उससे अतिरिक्त ऊपर की संख्यायें केवल ज्ञानको छोडकर किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। अतएव ऐसी संख्याओं में अनन्तत्व के उपचार की प्रवृत्ति हो जाती है। अथवा जो जो संख्या पांच इंद्रियों का विषय है वह संख्यात् है। उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय हो वह असंख्यात् है। उसके ऊपर जो केवल ज्ञानके विषयभाव को ही प्राप्त होती हैं वह अनन्त है।

प्रश्न—प्रत्येक जीव किसको कहते हैं?

उत्तर—प्रत्येकनामा नामकर्म का उदय जिस जीव को हो, वह प्रत्येक जीव कहा जाता है। अर्थात् एक शरीर

का एक जीव मालिक हो, जिसकी इन्द्रियां श्वासोच्छ्वास अलग २ हो ऐसे जीवों को प्रत्येक जीव कहा जाता है।

निगोद जीव वनस्पतिकायक ही होता है।

निगोद जीवोंकी आयु एक श्वासोच्छ्वासक अठारहवें भागकी ही होती है। इसी अपेक्षा से जिसमें मांस रुधिर आदि सप्त धातु हैं एस औदारिक शरीर के आश्रय जो त्रस जीव श्वासोच्छ्वास के अठारहवें भाग में जन्म मरण करते हैं उसे उपचार से निगोद संज्ञा दी जाती है। ऐसे त्रस निगोद जीवों की उत्पत्ति आठस्थान में नहीं है। १ पृथ्वीकाय २ अपकाय ३ तेजकाय ४ वायुकाय ५ नारकीका शरीर ६ देवका शरीर ७ आहारकशरीर. ८ केवलीका शरीर। परन्तु स्थावर निगोद तो सारे लोकमें ठसाठस भरे हैं। यद्यपि त्रस निगोद अनन्त जीव नहीं हैं परन्तु असंख्यात हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों में दो भेद हैं। १ प्रत्येक वनस्पति, २ साधारण वनस्पति। साधारण वनस्पति दो प्रकार की होती है। १ सूक्ष्म २ बादर। साधारण वनस्पतिकायिक जीवों को निगोद जीव कहते हैं। साधारण वनस्पतिकायिक जीवों में एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं अर्थात् अनन्त जीवोंका शरीर श्वासोच्छ्वास तथा इन्द्रिय एक ही है परन्तु सब जीवोंका कार्माण शरीर अलग२ है।

प्रत्येक जीव राशि अनन्त नहीं होती है, परन्तु असंख्यात होती है। साधारण वनस्पतिकायिक जीव अनन्त होते हैं। वह असंख्यात नहीं होते हैं। धवल ग्रन्थ भाग ७ म पृष्ठ ५०२ में लिखा है कि वनस्पतिकायिक व निगोद जीव सर्व जीवों के अनन्त बहु भाग प्रमाण हैं। सूत्र २६। बादर वनस्पतिकायिक, बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त, बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, बादर निगोद जीव, बादर निगोद पर्याप्त, निगोद अपर्याप्त जीव सर्व जीवों के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सूत्र २७-२८

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव सर्व जीवों के असंख्यात बहु भाग प्रमाण हैं। सू. २९-३०

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त सर्व जीवों के संख्यात बहु भाग प्रमाण हैं। सू ३१-३२

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक कहकर पुनः सूक्ष्म निगोद जीवों का भी पृथक् बहुभाग बताया है। इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही निगोद जीव नहीं होते। इस विषय में धवलाकार ने शंका उठाई है कि—

शंका—यदि ऐसा है तो सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक निगोद ही हैं, इस वचन के साथ विरोध आता है।

समाधान—उक्त वचन के साथ विरोध नहीं होगा, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीव सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही हैं,

ऐसा यहां अवधारण नहीं है।

शंका—तो फिर सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों को छोडकर अन्य सूक्ष्म निगोद जीव कौनसे हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीवों के समान उनके आधारभूत (बादर) वनस्पतिकायिकों में भी सूक्ष्म निगोद जीवत्व की सम्भावना है। इस कारण सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते यह बात सिद्ध होती है।

शंका—सूक्ष्मनामा नामकर्म के उदय से जिस प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों को सूक्ष्म पना होता है, उसी प्रकार निगोद नामकर्म के उदयसे निगोदत्व होता है। किन्तु बादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके निगोद नाम कर्मका उदय नहीं है, जिससे कि उनकी निगोद संज्ञा हो सके।

समाधान—नहीं, क्योंकि, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवों के भी आधार में आधेयका उपचार करने से निगोदपनेका कोई विरोध नहीं है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—निगोद प्रतिष्ठित जीवों के बादर निगोद जीव इस प्रकार के निर्देश से तथा बादर वनस्पतिकायिकों के आगे निगोद जीव विशेष अधिक हैं, इस प्रकार कह

गये सूत्र वचनसे यह जाना जाता है। (पृ० ५०२–५०६)

फिर लिखा है कि सूत्र सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव अपर्याप्त सर्व जीवों के संख्यातव भाग प्रमाण हैं। सूत्र ३३,३४।

शंका—निगोद जीव सब वनस्पतिकायिक ही हैं अन्य नहीं हैं, इस अभिप्राय से कुछ भागाभाग सूत्र स्थित हैं, क्योंकि सूक्ष्म वनस्पति कायिक भागाभाग के तीनों ही सूत्रों में निगोद जीवों के निर्देश का अभाव है ? इसलिये उन सूत्रों से इन सूत्रों का विरोध है।

समाधान—यदि ऐसा है तो उपदेशको प्राप्त कर यह सूत्र नहीं है ऐसा आगम निपुण जन कह सकते हैं। किन्तु हम यहां कहनेके लिए समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हम ऐसा उपदेश प्राप्त नहीं है।

और फिर भी लिखा है कि—

बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवों से बादर निगोद जीव प्रतिष्ठित असंख्यात गुणी है।

(सूत्र ६३ पृ ३२७)

बादर निगोद जीव निगोद प्रतिष्ठित से बादर पृथ्वीकायिक जीव असंख्यात गुणा है। सूत्र ६४ (इस सूत्रसे बादर निगोद प्रतिष्ठित से बादर पृथ्वीकायिक जीव असंख्यात गुणा दिखाया है) निगोद जीव तो एक शरीर में अनन्त

ही रहते हैं जब बादर पृथ्वीकायिक अनन्त कभी भी नहीं होते हैं परन्तु असख्यात ही होते हैं। इसलिये यह सूत्र बम निगोद की अपेक्षा से लिखा गया है यह स्वय सिद्ध होजाता है)

बादम सूत्र है कि वनस्पतिकायिकासे निगोद जीव विशेष अधिक हैं। सूत्र ७५ (वनस्पतिकायिक म तो प्रत्येकजीव तथा निगोद जीव दोनों ही आजाते हैं, फिर भी वनस्पतिकायिक से निगोद जीव विशेष कैसे बताया इस विषय पर धवलाकार ने शका उठाई है कि—

शका—यहा शकाकार कहते हैं कि यह सूत्र (सूत्र७५) निष्फल है, क्योंकि वनस्पतिकायिक जीवों से पृथग्भूत निगोद जीव पाया नहीं जाता है। तथा वनस्पतिकायिक जीवों से पृथग्भूत पृथ्वीकायिक आदि म निगोद जीव हैं ऐसा आचार्यों का उपदेश भी नहीं है, इसलिये इस सूत्रको सत्रत्व का प्रसग हो सकता ?

समाधान—तुम्हारे द्वारा कहे हुये वचनम भले ही सत्यता हो, क्योंकि बहुतसे सूत्रों में वनस्पतिकायिक जीवों म आगे निगोद पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवों के आगे वनस्पतिकायिकों का पाठ पाया जाता है, और ऐसा बहुतसे आचार्यों से सम्मत भी है। किन्तु यह सूत्र ही नहीं है,ऐसा निश्चित कहना उचित नहीं है। इस प्रकार

कही जाती है ऐसे जीव तथा साधारण वनस्पति कायिक जीव विशेष वनस्पति कायिक जीव से अधिक है, यही सूत्र का अर्थ है।

शंका—त्रस जीव को निगोद कहा जाता है ऐसा कोई आगम प्रमाण है?

समाधान—धवल ग्रन्थ नंबर ७ पृष्ठ ५३७ पर सूत्र ६४ देखिये तो मालूम होगा कि यह सूत्र त्रस निगोद की अपेक्षा से ही है।

अनन्तकाल निकालने का जीव के लिए दोही स्थान हैं। १ निगोद २ सिद्ध पद। संसार अवस्था में अनन्तकाल निगोद में ही निकाला जाता है। और मुक्त आत्मा अनन्तकाल सिद्ध अवस्था में निकालता है परन्तु त्रस पर्याय में अनन्त काल निकल नहीं सकता है। त्रस अवस्था मर्यादित है।

प्रश्न—त्रस कायिक जीवों का उत्कृष्ट काल कितना है?

उत्तर—त्रसकायिक जीवोंका उत्कृष्ट काल पूर्वकोटी पृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम और त्रस कायिक पर्याप्तक जीवों का उत्कृष्ट काल पूरे दो हजार सागरोपम प्रमाण है। (ध ४-४०८)

इतने काल में आत्माने अपना कल्याण किया तो

उत्तम और नहीं तो नियम से आत्मा एकेन्द्रिय में जायगा जहां अनन्तकाल में भी सुअवसर मिलनेका कारण मिलता ही नहीं है। इसलिए त्रस पर्याय में ही अपना कल्याण कर लेना यही जीवका परम कर्तव्य है। उत्कृष्ट स्थितिका पुण्यका काल भी भोगने का काल त्रस पर्याय ही है बाद में वही पुण्य कर्म प्रकृतियां नियम से पापरूप परिणमन कर जाती हैं।

प्रश्न—तिर्यञ्चगति से तिर्यञ्च जीवों का जघन्य अन्तर कितना है ?

उत्तर—तिर्यञ्चगति से तिर्यञ्च जीवों का अन्तर कम से कम क्षुद्र भवग्रहण मात्र काल तक तिर्यञ्च जीवों का तिर्यञ्च गति से अन्तर होता है (ध ७ १८६)

प्रश्न—स्वस्थान-स्वस्थान वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात इन पदों की अपेक्षा बादर पृथ्वीकायिक जीव जब कि लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहते हैं, तो वे सर्व लोक में रहते हैं ऐसा सूत्र द्वारा कहा गया है यह कैसे घटित होता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा बादर पृथ्वीकायिक जीव सर्वलोक में रहते हैं, इस प्रकारका उपदेश दिया गया है। (ध ४ ९१)

शंका—पृथिवियों में सर्वत्र जल नहीं पाया जाता है,

इसलिये जलकायिकजीव पृथ्वियों म सर्वत्र नहा रहते है ?

समाधान—ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बादर नामक नाम कर्म के उदय से बादरत्व को प्राप्त हुए जलकायिक जीव यद्यपि पृथिवियों म सर्वत्र नहा पाये जाते हैं, तो भी उनका सर्व पृथिवियों में अस्तित्व होने में कोई विरोध नहीं आता है। (ध ४ ८९)

शङ्का—बादर तेजस्कायिक जीव सर्व पृथ्वियों में रहते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—आगम से यह जाना जाता है कि बादर तैजस्कायिक जीव सर्व पृथ्वियो म रहते हैं। (ध ४ ८९)

शङ्का—बादर वायुकायिक पर्याप्तराशि लोक के सख्यातवें भाग प्रमाण है, जब वह मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों को प्राप्त हो तब वह सर्व लोक म क्यो नहा रहती है ?

समाधान—नहा रहती है, क्योंकि राजुप्रतर प्रमाण-मुखसे और पाँच राजु आयाम से स्थित क्षेत्र म ही प्राय करके उन बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवो की उत्पत्ति होती है। (ध. ४ ९६)

प्रश्न—अग्नि और वायु कायिक जीव मरणकर कहाँ जाते है ?

उत्तर—अग्निकायिक व वायुकायिक बादर व सूक्ष्म

पर्याप्तक व अपर्याप्तक जीव तिर्यञ्च पर्यायों से मरणकर एक मात्र तिर्यञ्चगति म ही जाते हैं। क्योंकि, समस्त अग्निकायिक वायुकायिक संक्लिष्ट जीवों के शेष गतियों म जाने योग्य परिणाम का अभाव पाया जाता है।

(ध ६ ४५८)

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवों को सहनन क्यों नहीं होता?

उत्तर—एकेन्द्रिय जीवों में सहनन कर्म का उदय नहीं होता है। (ध ६-११६)

प्रश्न—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य, उत्कृष्ट आयुस्थिति कितनी है।

उत्तर—कमसे कम अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं। और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं।

(ध ७ १३६)

विग्रह गति म तीन मोडा मात्र सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों मे उत्पन्न होनेवाले जीवों के ही होते हैं।

शका—सूक्ष्म एकेन्द्रियों मे उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के तीन विग्रह होते हैं, यह नियम कैसे जाना?

समाधान—यद्यपि इस विषय में कोई नियम नहीं है, तो भी संभावना की अपेक्षा सूक्ष्म एकेन्द्रियों का ही ग्रहण

किया है। अतएव सूक्ष्म एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले बादर एकेन्द्रिय या सूक्ष्म एकेन्द्रिय अथवा त्रसकायिक जीव ही तीन विग्रह करते हैं, यह नियम ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, यही उपदेश आचार्य परम्परा से आया हुआ है। (ध ४-४३४)

वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—वेदना क्षेत्र विधान में कहे गये अवगाहना दंडकसे यह जाना जाता है कि प्रत्येक शरीर की जघन्य अवगाहनासे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (ध ४-६४)

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तों के सिवाय अन्यत्र सब जघन्य स्थिति बन्ध नहीं पाया जाता है।

शंका—इस का क्या कारण है?

समाधान—विशिष्ट जातियों की विशुद्धियों को देख कर ही स्थिति बन्ध के जघन्यता संभव है। इसलिए बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तो के सिवाय उसका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। (ध. ६-१८०)

त्रस काय जीवों का स्वरूप

दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों को त्रसकायिक जीव कहा जाता है। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौन्द्रिय जीवोंको विकलत्रय जीव कहा जाता है।

प्रश्न—दोइन्द्रिय जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—त्रस नामा नामकर्म के उदय से तथा स्पर्शन रसना इन दो इन्द्रियों के आवरणके क्षयोपशमसे जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है कि जिसमे रहते मात्र स्पर्श तथा रस विषयों का इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकता है अर्थात् भोग कर सकता है ऐसे जीवों को दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। दोइन्द्रिय जीवोंमे बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह अनेक प्रकारके जीव हैं। जैसे शख, सीपिये, पावरहित गिडोला, कृमि, लट आदि अनेक जाति के हैं।

प्रश्न—विकलेन्द्रियोंक वचनों म अनुभय पना कैसे आ सकता है ?

उत्तर—विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसाय रूप ज्ञान क कारण है इसलिये उन्हे अनुभय रूप कहा है।

शका—उनके वचनो म ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उ ह अनध्यवसाय का कारण क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नही, क्योंकि, यहा पर अनध्यवसाय से

उत्तर—त्रस नामा नाम कर्म तथा तिर्यञ्च नामा नामकर्म के उदयसे तथा स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा नोइन्द्रियावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जिस जीव को औदारिक शरीर मिला है। जिसमें रहकर पांच इन्द्रियों द्वारा पांच इन्द्रियों के विषय को भोग भोगने की शक्ति प्राप्त हुई है। तिर्यञ्चकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है. १ सम्मूर्च्छन २ गर्भज। तिर्यञ्च तीन प्रकारके होते हैं। १ जलचर २ स्थलचर ३ नभचर। इन जीवों को शब्द श्रुत ज्ञान नहीं होने से भी भाव ज्ञान हिताहित का होता है। सभी तिर्यञ्च को नीच गोत्रका ही उदय है। तिर्यञ्च सज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी दो प्रकारके होते हैं। १ भोगभूमिक २ कर्मभूमिक। भोगभूमि तिर्यञ्च सम्यग दर्शनकी प्राप्ति कर सकता है। परन्तु वहां पांचवें गुणस्थान रूप भाव नहीं हो सकता है। भोगभूमि के तिर्यञ्च नियम से मरण कर देवगति में जाते हैं। कर्म भूमि सम्मूर्च्छन्न सज्ञी पचेन्द्रिय जीव जिसको मोहनीय कर्म की २८ अठाईस कर्म प्रकृतिकी सत्ता है वही जीव भी पंचमगुणस्थान रूप भाव कर सकता है। सम्मूर्च्छन्न सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। सम्मूर्च्छन्न सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंचकी आयु उत्कृष्ट १ एक करोड पूर्व की हो सकती है। गर्भज

सञ्ञी पचेन्द्रियजीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है। यह जीव पचम गुणस्थान तक का निर्मलपरिणाम कर सकता है। मनुष्य म पचम गुणस्थानवर्ती जितने जीव हैं इसस असख्यात गुणा विशेष तिर्यंच पचमगुणस्थानवर्ती जीव हैं। तिर्यंच जीव पचमगुणस्थानवर्ती विशेषस्वयभू रमण समुद्र म हैं। गर्भज तिर्यंचों को अवधिज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। सञ्ञी सम्मूर्च्छन पचेन्द्रिय तिर्यच भी उत्कृष्ट आरणा अच्युत स्वर्गतक जासकता है।

शका—जिसको शब्दश्रुत ज्ञान नहीं है ऐसे तिर्यंचो को भावज्ञान कैसे हो सकता है।

समाधान—जैसे हिरण एव साँप आदि को राग रागणी का शब्द श्रुत ज्ञान नहीं है और भाव ज्ञान है जिस कारण से रागरागणी म अति अनुरागी होकर बन्धन म पडत हैं एव मरण को भी प्राप्त हो जाते हैं। कुत्ते को रोटी डालने से वह सामने बैठकर आनन्द से पूछ हिलाकर खाता है, परन्तु रोटी ले भागकर नहीं खाता है। वही कुत्ता यदि चौका घरम से चोरी कर रोटी उठा ले जावे तो नियम से वह दूर भागकर चुपी रीति से खावेगा परन्तु सामने बैठकर नहीं खावेगा, क्योंकि, वह जानता है कि यह रोटी चोरी कर लाया हूँ, यदि सामने बैठकर खाऊ तो नियम से [illegible] पडेगी। इस प्रकार भाव

उनींदो हो जाता है, यद्यपि चोरी किसका नाम है वह मुखसे बोल नहीं सकता है। तिर्यच पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक व्रतधारी हो जाय तो भी वह, मनुष्य पात्र जीवो को दान द नही सकता है। यदि तिर्यच जीव, मुनि महाराज आहार ले रहे है वहां छू जाय तो मुनि महाराज को अन्तराय आजाती है यह चरणानुयोग की विधि है, किन्तु तिर्यच मुनि महाराज को दान दने की अनुमोदना कर सकता है। तिर्यच, तिर्यचो म आहार दान देने की विधि है। सयता-सयत तिर्यच जीव सचित्त भजन क प्रत्याख्यान अर्थात् व्रत को ग्रहण कर लेते है उनके लिये वनस्पति क सूखे पत्ते आदि के दन का व्यवहार है। (ध ७-१२३)

प्रश्न—सामान्य तिर्यचो क अपर्याप्त काल म तीनो अशुभ लेश्याय क्या होती है।

उत्तर—क्योकि, तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वाले भी देव यदि तिर्यचो म उत्पन्न होते है तो नियम से उनके शुभ लेश्यायें नष्ट हो जाती है इसीलिये तिर्यचो की अपर्याप्त अवस्था म तीन अशुभ लेश्यायें होती है। (ध २ ४७३)

शुक्ल लेश्यावाले तिर्यच शुक्ल लेश्यावाले देवो म उत्पन्न नहीं होते है।

शका—किस प्रमाण से यह कहा जाता है ?

समाधान—क्योकि, पाच नट चौदह भाग प्रमाण

स्पर्शन क्षेत्रके उपदेश का अभाव है, इससे जाना जाता है कि शुक्ललेश्या वाले तिर्यञ्च जीव मरकर शुक्ल लेश्या वाले देवों में उत्पन्न नहीं होते हैं। (ध ४–३००)

प्रश्न—तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि मरणकर कहा जाता है ?

उत्तर—तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि संख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यञ्च, तिर्यञ्च पर्यायों से मरणकर तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, और देवगति में जाते हैं। तिर्यञ्चगति में जानेवाले संख्यातवर्ष की आयुवाले सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय में जाते हैं, विकलेन्द्रियों में नहीं जाते हैं।

शंका—यदि एकेन्द्रियों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो पृथ्वीकायादिक जीवों में मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान होने चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आयु क्षीण होनेके प्रथम समय में ही सासादन गुणस्थान का विनाश हो जाता है। (ध ६–४५८)

प्रश्न—संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि जीव मरणकर देवों में कहां तक जा सकता है ?

उत्तर—संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय पर्याप्त संख्यात आयुवाले तिर्यञ्चजीव भवनवासियों से लगाकर

काल कितना होता है ?

उत्तर—कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक नरकगति से नारकी जीवोंका अन्तर होता है। क्योंकि नरक से निकल कर गर्भोत्क्रान्तिक तिर्यंश्च जीवों म अथवा मनुष्यों म उत्पन्न हो सबस कम आयु क भीतर नरकायु को बाध कर मरण कर पुन नरकों म उत्पन्न हुए नारकी जीवक नरक गति से अन्तर्मुहूर्त मात्र अन्तर पाया जाता है।

(ध ७–१८७)

प्रश्न—सप्तम नरक से निकला हुआ नारकी कहाँ उत्पन्न होता है और वहा वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकता है कि नहीं ?

उत्तर—सातवीं पृथ्वी का नारकी नरक से निकल कर तिर्यञ्च गति म ही उत्पन्न होता है, परन्तु वही तिर्यञ्च इन छहो की उत्पत्ति नहीं करत है। (१) आभिनिबोधिक ज्ञान, (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान, (४) सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को (५) सम्यक्त्व को उत्पन्न नहीं करत (६) और संयमासंयम को उत्पन्न नहीं करते है।

(ध ६ ४८४)

श्री धवलग्रन्थ म सप्तम नरक क आये हुए तिर्यञ्च जीवा के सम्यक्त्व की प्राप्ति का सर्वथा प्रतिषेध किया गया है, परन्तु तिलोयपण्णत्ति (२-२९२) तथा प्रज्ञा-

पन्ना (२०–१०) म उनमें से कितने ही जीवों द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण किये जाने का विधान पाया जाता है।

प्रश्न—छठे नरक पृथ्वी म से निकले नारकी कौनसी गति म किस पद को प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर—छठी पृथ्वी मे से निकला नारकी मनुष्य और तिर्यंचगति में जाता है वहाँ। अभिनिबोधक ज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ सम्यग्मिथ्यात्व ५ सम्यक्त्व ६ और सयमासयम उत्पन्न कर सकता हैं। (ध ६. ४८६)

प्रश्न—पाचवी नरक पृथ्वी में से। निकला। नारकी जीव मनुष्यगति में किस पद को प्राप्त कर सकता है ?

उत्तर—पांचवी पृथ्वी में से निकला नारकी, मनुष्य होकर अभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सयमासयम और कोइ सयम की प्राप्ति करता है। (ध, ६–४८८)

प्रश्न—चौथी नरक पृथ्वी। में से निकला नारकीमनुष्य गति में किस पद को प्राप्त कर सकता है।

उत्तर—चौथे नरकी में से निकला जीव मनुष्य होकर मति-श्रुत अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान को तथा सयमासयम, सयम सिद्धपद को प्राप्त करता है, पन्तु बलदेव नारायण चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं होते।। ((ध. ६-४८९),

देव जीव का स्वरूप ।

त्रस नामा नामकर्म तथा देवगति नामानामा कर्म के उदय से तथा स्पर्श, रसना, घाण, चक्षु, श्रोत्र तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस जीव को वैक्रयिक शरीर मिला है, जिसम रहकर पाचइन्द्रियो द्वारा पचइन्द्रियों के विषयों के उत्कृष्ट भोग भोगने की शक्ति प्राप्त हुई है। जिसको हित अहित का ज्ञान है। जिसकी उत्पत्ति उपपाद से होती है वे चार प्रकार के देव हैं। १ भवनवासी २ व्यन्तर ३ ज्योतिषी ४ वैमानिक। इनम से भवनवासी दस प्रकार के हैं। व्यन्तर देव आठ प्रकार क हैं। ज्योतिषी देव पाच प्रकार के हैं, तथा वैमानिक देव दो प्रकार क हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, तथा सौधर्म, एशान यह दो कल्पवासी देव शारीरिक सम्बन्ध से मनुष्यो की तरह देवियों से काम सेवन करते हैं। बाकी के कल्पवासी देव, देवागनाओं को स्पर्श कर, रूप देखकर, शब्द सुनकर मन म चिंतवन कर अपनी अपनी काम वासनाओं से पूर्ण हो जाते हैं। कल्पातीत देव अथवा नौग्रैवयिक नौअनुदिश तथा पाच अनुत्तर इनम रहने वाले अहमिन्द्रो की कषाय इतनी मन्द है कि इनके विषय वासना होती ही नहीं है। भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषी इन तीनो निकायो के देवो मे अपर्याप्त अवस्था म कृष्ण नील कपोत और पीत

लेश्या रहती है, किन्तु पर्याप्त अवस्थामें मात्र पीत-लेश्या रहती है। कल्पवासी देवों में तीन शुभ लेश्यायें रहती हैं। कल्पातीत देवों में मात्र शुक्ल लेश्या ही रहती है। देवों में तीन वेदोमें से दो वेदका ही भाव होता है। देवियों के साथ रमने का भाव तथा देवों के साथ रमने का भाव होता है, किन्तु नपु सक भाव नहीं होता है।

प्रश्न—देव पर्याय में सुख भोगने के अनेक साधन हैं तो भी वहाँ सुख नहीं है ऐसा कैसे कहा जाता है?

उत्तर—देव पर्याय में भी एकान्तिक दुःख ही है। जिसने मिश्री देखी नहीं है वह मिश्री मीठी होती है, ऐसा मात्र शब्दसे बोलता है परन्तु इसके स्वादका ज्ञान नहीं है। ऐसे आत्मिक सुखकी जिनको गन्ध नहीं है वेही जीव कहते हैं कि देव पर्याय म सुख है, परन्तु विचार तो करो कि यदि देवगति में सुख होते तो वह एक विषय छोड़कर दूसरे विषय को क्यों ग्रहण करते? विषय से विषयान्तर में जाना वही दुःख की तो निशानी है। एक वस्तुमें सुख का अनुभव नहीं हुआ तब तो दूसरे विषय में पतंग की माफिक जला करते हैं। अज्ञानी जीव कल्पना करता है कि देव पर्यायों में सुख है परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि वहाँ किंचित सुख नहीं है। जहाँ विषयों सेदूसरे विषयों म जाने की भावना है वही भावना ही दुःख की जननी है

प्रश्न—मरणकाल में किन देवों की लेश्यायें परिवर्तन हो जाती हैं ?

उत्तर—तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले देव जो परमार्थ के अजानकार और तीव्र लोभ कषायवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवों के मरते समय सक्लेश उत्पन्न हो जानेसे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यायें नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में यथासभव कोई एक लेश्या होजाती है। किन्तु जो मनुष्यों में ही उत्पन्न होने वाले हैं, मन्द लोभ कषायवाले हैं, परमार्थ के जानकार हैं, और जिन्होंने जन्म जरा और मरण के नष्ट करनेवाले अरहन्त भगवान में अपनी बुद्धि को लगाया है, ऐसे सम्यग्दृष्टिदेवोंके चिरतन तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याऐं मरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती हैं। (ध २–७६४)

प्रश्न—भवनवासी देवों के विमानों में पृथ्वीकायिकादि जीव निवास करते हैं ?

उत्तर—बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक, तेज कायिक और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर, तथा इनके अपर्याप्त जीव भी भवनवासियोंके विमानों में व आठ पृथ्वियों में निश्चितक्रमसे निवास करते हैं।

शका—तैजसकायिक, जलकायिक, और वनस्पति

कायिक जीवों की क्या वहाँ संभावना है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्रियों से अग्राह्य व अतिशय सूक्ष्म पृथ्वी सम्बद्ध उन जीवों के अस्तित्व कोई विरोध नहीं है। (ध ७-३३२)

प्रश्न—देवगति से मरणकर फिर देवगति में उ होने का जघन्य अंतरकाल कितना है ?

उत्तर—देवगतिसे देव भवनवासी या व्यन्तर-ज्यो देव और सौधर्म ऐशान कल्प के देवों की जघन्य धन्य अन्तर्मुहूर्त कालमात्र है, क्योंकि, देवगति से अ गर्भोपक्रांतिक पर्याप्त तिर्यंचोंम व मनुष्योंम उत्पन्न ह पर्याप्तियाँ पूर्णकर देवायुबंध पुन देवों में उत्पन्न जीव के देवगति से अंतर्मुहूर्तमात्र अंतर पाया जाता है।

सानत्कुमार-और माहेंद्र कल्प के देवोंका भी अंत की प्ररूपणा जघन्य अंतरमुहूर्त पृथक्त्व मात्र काल होती है। क्योंकि, सानत्कुमार माहेंद्र देवोंमस गर्भोपक्रांतिक तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर मुहूर्तपृथक्त्व काल रह कर आयु को बांधकर पुनः सानत्कुमार माहेंद्र देवों में उत्पन्न हुए जीव के मुहूर्त पृथक्त्व मात्र काल का अंतर पाया जाता है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर व लांतव कापिष्ठ कल्पवासी देवों देवगति से कमसे कम दिवस पृथक्त्व कालमात्र

्वगति से अन्तर होता है। क्योंकि उक्त देवों द्वारा जो आगामी भव की आयु बांधी जाती है उसका स्थिति बंध दिवस पृथक्त्वसे कम होता ही नहीं है।

शंका—दिवस पृथक्त्वकी आयुम तो तिर्यंच व मनुष्य गर्भ से भी नहीं निकल पाते, और इसलिये उनम अणुव्रत व महाव्रत भी नहीं हो सकते ? ऐसी अवस्थाम दिवस पृथक्त्व की मात्र आयु के पश्चात् पुन देवों म कैसे उत्पन्न हो सकते है ?

समाधान—यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि, परिणामों के निमित्त से दिवस पृथक्त्व मात्र जीवित रहनेवाले तिर्यंच व मनुष्य पर्याप्तक जीवोंके देवोंम उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार कल्पवासी देवोंका देवगति से अंतर कमसेकम पच पृथक्त्व काल तक अन्तर होता है।

आनत, प्राणत और आरण अच्युत कल्पवासी देवों का देवगति से अतर कमसेकम मास पृथक्त्व काल मात्र होता है। क्योंकि, आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंके द्वारा बांधी जानेवाली मनुष्यायुका स्थितिबंध कमसेकम मास पृथक्त्व से नीचे नहीं होता है।

शंका—जब आनत आदि चार कल्पवासी देव मनु-

च्योंमें उत्पन्न होते हैं, तब मनुष्य होकर भी वे गर्भसे लेकर आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर अणुव्रत व महाव्रत को ग्रहण करते हैं। अणुव्रतों को व महाव्रतोंको ग्रहण न करनेवाले मनुष्योंको आनत आदि देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता। अतएव आनत आदि चार देवोंका मास पृथक्त्व अंतर करना युक्त नहीं है, उनका अंतर वर्ष पृथक्त्व होना चाहिये ?

समाधान—अणुव्रतों व महाव्रतों से संयुक्त ही तिर्यञ्च व मनुष्य आनत प्राणत देवों में उत्पन्न हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर तो तिर्यञ्च असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का जो छः राजू स्पर्शन बतलाने वाला सूत्र है उससे विरोध उत्पन्न हो जावेगा। (देखो षट्खंडागम जीव ठाणा स्पर्शनानुगम सूत्र नं० २८ व टीका पुस्तक नंबर ४ पृष्ठ २०७) और आनत प्राणत कल्पवासी असंयत सम्यग्दृष्टि देव जब मनुष्यायु की जघन्य स्थिति बांधते हैं, तब वे वर्ष पृथक्त्वसे कम आयु की स्थिति नहीं बांधते क्योंकि, महाबन्ध में जघन्य स्थिति बन्ध के काल विभाग में सम्यग्दृष्टि जीवों की आयु स्थितिका प्रमाण वर्ष पृथक्त्व मात्र प्ररूपित किया गया है। अतः आनत प्राणत मिथ्यादृष्टि देवके मास पृथक्त्व मात्र मनुष्यायु बांधकर फिर उत्पन्न हो मास पृथक्त्व जीवित रहकर पुनः

मात्र आयु वाले सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च समूर्च्छन पर्याप्त जीवों में उत्पन्न होकर पर्याप्तक हो, सयमासयम [अणुव्रत] ग्रहण करके आनत आदि कल्पकी आयु बाँधकर वहाँ उत्पन्न हुए जीवके सूत्रोक्त मास पृथक्त्व प्रमाण जघन्य अन्तरकाल होता है।

नवग्रैवयक विमानवासी देवों का देवगति में जघन्य अन्तर वर्ष पृथक्त्व काल तक होता है। क्योंकि नवग्रैवेयक विमानवासी देव वर्ष पृथक्त्व से नीचे की जघन्य आयु स्थिति बाधत ही नहीं हैं।

अनुदिश आदि अपराजित पर्यन्त विमानवासी देवोंका देवगति से जघन्य अन्तर वर्ष पृथक्त्व काल और उत्कृष्ट सातिरेक दो सागर प्रमाण कालअन्तर होता है। क्योंकि अनुदिशी आदि देवक पूर्वकोटि के आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर एक पूर्व कोटी तक जीवित रहकर सौधर्म एशान स्वर्गकी जाकर वहा अढ़ाई सागरोपम काल व्यतीत कर पुन पूर्वकोटी आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर सयम को ग्रहण कर अपने अपने विमान में उत्पन्न होने पर उनका अन्तरकाल सातिरेक दो सागरोपम प्रमाण प्राप्त हो जाता है। (ध ७-१९०)

प्रश्न—देवों में पीत शुभ लेश्या हैं तो भी वह मरण कर एकेन्द्रिय पर्याय में जा सकता है, और नारकियों मे

तीनों अशुभ लेश्या ही हैं तो भी वे मरण कर नियम से सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय ही होते हैं इसका क्या कारण है ?

उत्तर—देवा म तीन शुभ लेश्या होते हुए देव गति के भोग भोगने के भाव हैं जिस कारण से वे अपनी वासना के अनुकूल मरणकर एकेन्द्रियादि पर्याय म जाते हैं, जबकि नारकी के भोग भोगने की भावना नहीं है परन्तु नरक क्षेत्र की अति पीडा के कारण नरक क्षेत्रसे बचने के लिए तीव्र अशुभ लेश्या रूप प्रवृति है जिस कारण से वह मरणकर नियम से सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय ही बनता है। जैसे एक मनुष्य के ऊपर दस आदमी हमला कर रहे हैं, माररहे हैं तब उस मनुष्यका भाव नहा उसे मारने का नहीं होता है परन्तु वह दु ख से बचने के लिये तीव्र प्रवृति करता है, इसी प्रकार नारकी जीव नरक क्षेत्र-जन्यदु ख से बचने के लिये तीव्र प्रवृति करता है। परन्तु नरक म भोगनेके तीव्र सक्लेशरूप परिणामो से रहता नहीं, इसी कारण से वह जीव मरणकर नियमसे सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय ही होता है।

देवोंके शरीर में सहनन नहीं होता है।

प्रश्न—देवगति में छह सहनन क्यो नहीं होते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, देवो में सहननोंके उदय का अभाव है। (ध. ६–१२२)

प्रश्न—देवगति के साथ उद्योत प्रकृतिका बंध क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—क्योंकि देवगति में उद्योत प्रकृतिके उदय का अभाव है, और तिर्यंच गति को छोडकर अन्य गतियो के साथ उसके बंधने का विरोध है।

शका—देवों में उद्योत प्रकृतिका उदय नहीं होनेपर देवों के शरीरो में दीप्ति (कान्ति) कहा से होती है ?

समाधान—देवोके शरीरो में दीप्ति वर्णनाम कर्मके उदय से होती है। (ध ६ १२६)

प्रश्न—क्या देव असख्यात योजन प्रमाण विहार करनेवाले होते है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, असख्यात योजन प्रमाण विहार करने वाले देव सर्व देवराशि के असख्यात भाग मात्र हैं।

शका—यह किस प्रकार जाना जाता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि विहारवत्स्वस्थान राशि तिर्यग्लोक (पूर्व पश्चिम एक राजू चौडा, उत्तर दक्षिण सात राजू लम्बा, एक लाख योजन ऊ चा) क सख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र म रहती है। इस प्रकार के व्याख्यानसे उक्त बात जानी जाती है। (ध ४-३७)

प्रश्न—क्या असख्यात योजन क्षेत्र को रोककर

विक्रिया करने वाले भी देव पाये जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, असख्यात योजन विक्रिया करनेवाले देव सामान्य देवों के असख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि सभी देव अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र प्रमाण विक्रिया करते हैं। परन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि वैक्रियिक समुद्‌घातको प्राप्त हुई राशि तिर्यग् लोकके सख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र म रहती है, ऐसा व्याख्यान देखा जाता है। (ध ४–२८)

प्रश्न—सर्वार्थसिद्धि देवों की सख्या कितनी है ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवोंकी सख्या मनुष्ययोनिके प्रमाण से तिगुणी है। कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धि देव मिथ्यादृष्टि मनुष्य योनि से तिगुणे और सात गुणे हैं। तथा कोइ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धि देव सामान्य से सख्यात समय गुणाकार हैं। इसलिये यहा गुणाकार के विषय मे तीन उपदेश है। तीनों के मध्य में एक ही सत्य (श्रेष्ठ) उपदेश है परन्तु वह जाना नहीं जाता है। इस कारण तीनों का ही सग्रह करना चाहिये।

(ध. ७–५७६)

प्रश्न— चन्द्रके कितना परिवार है ?

उत्तर—एक चन्द्रके परिवार म (एक सूर्य क अतिरिक्त) अट्ठासी ग्रह और अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं, तथा तारा का प्रमाण निम्न है।

छासटिठ च सहस्स णवयसद पच सतरि य हाति।
एय ससी परिवारो ताराण कोडि कोडीओ ॥ ३ ॥

अर्थ—चन्द्र के परिवार म छयासठ हजार नौसौ पिचेत्तर कोडा कोडी ६६९७५०००००००००००००० तारे होते हैं। (ध ४-१५२)

— –

मनुष्य जीव का स्वरूप

त्रस नामा नामकर्म तथा मनुष्य गति नामा नाम कर्म क उदय से तथा स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र एव नोइन्द्रियावरणीय कर्मका क्षयोपशम से जिस जीवको औदारिक शरीर मिला है, जिसम रह कर पाच इन्द्रियों द्वारा पचेन्द्रियों क विषयों का भोग भोगने की शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य मात्र ही सनी हैं। मनुष्य की उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। १ सम्मूर्च्छन २ गर्भज । सम्मूर्च्छन मनुष्य क भी दस प्राण होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य की आयु श्वासोच्छ्वास के अठाहरवें भाग म होती है। जिसका अपर्याप्त अवस्था म ही मरण हो जाता है। मास, रुधिर

आदि सप्त धातु वाले शरीर में ऐसे जो जीव उत्पन्न होते हैं इसी को उपचार से निगोद भी कहा जाता है, क्योंकि, ऐसे जीवों की आयु निगोद जीवों के समान रहने से निगोद का उपचार किया जाता है। सम्मूर्छन जीव तो अपना कल्याण कर नहीं सकता है।

गर्भज मनुष्य दो प्रकार का होते हैं। १ भोगभूमि मनुष्य २ कर्मभूमि मनुष्य।

भोगभूमि मनुष्य—देवकुरु उत्तम भोगभूमि है जहाँ तीन पल्य की आयु होती है। हरिक्षेत्र मध्यम भोगभूमि है जहा दो पल्य की आयु होती है। हैमवत क्षेत्र जघन्य भोगभूमि है जहा एक पल्य की आयु होती है। भोग-भूमियों की आयु की अन्तिम घड़िया में बालक बालिका युगल पैदा होते हैं। और वही ४९ दिन में भोगोपभोग भोगने लगते हैं। इस युगल का पति पत्निका ही सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के कल्पवृक्ष से ही अपनी इच्छा के अनुकूल भोगों की सामग्री सहज मिल जाती है। इस युगल का अर्थात् पति पत्निका मरण एक साथ ही होता है, क्योंकि, अलग २ मरण होने से राग के कारण से दुःखका अनुभव करना पड़, किन्तु भोग भूमि में संसारी सुख की ही प्रधानता होने से ऐसा वियोग का प्रसंग ही नहीं है। यह युगलया मरणकर नियम से देवगति

जायगा, उसकी दूसरी गति होती नहीं है। भोगभूमि मे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वहां सयमासयम भाव होता ही नहीं है यह भोगभूमि की महिमा है। गोत्र की अपेक्षा से तो मनुष्यमात्र ही उच गोत्री है, परन्तु भोग भूमि म व्यवहार स गोत्र का भेद पडता नहीं है, क्योंकि वहा आजीविका क निमित्त से कोई भी कार्य होता ही नहीं है, क्योंकि यहाँ सर्व व्यवहार कल्पवृक्ष से ही होता है।

कर्मभूमि मनुष्य—कर्म भूमि क मनुष्य भी दो प्रकार क होते हैं। १ आर्य मनुष्य २ अनार्य मनुष्य। जिसको आत्मिक धर्म प्राप्त करने की भावना होती है वह आर्य मनुष्य है। जिसको आत्मिक धर्म प्राप्त करने की भावना होती नहीं वही अनार्य है जिसको म्लेच्छ कहते है। प्रधान पने यह भेद भूमिजन्य है। म्लेच्छ खण्डोंमें रहनेवाले जीवोंमें धर्म बुद्धि होती ही नहीं है, यह इस भूमिकी एक महिमा है, जिस कारण से अनादि अकृत्रिम चैत्यालय वहा एक भी नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि इस भूमि की ही महिमा है। आर्यभूमिके मनुष्य का म्लेच्छ भूमिमें जन्मी हुई कन्याओं क सा थ विवाह—शादी करने का व्यवहार है। म्लेच्छ भूमिमें जन्म लिया हुआ स्त्री एव पुरुष यदि आर्य भूमि में आजावतो वह अपन परिणाम निर्मल

कर तो मुनि अजिकाके पद तकका परिणाम निर्मल कर सकता है परन्तु यही परिणाम म्लेच्छ भूमि में रहकर निर्मल कर नहीं सकता है। परन्तु इन जीवों का इतना निर्मल परिणाम नहीं हो सकता है कि उसी भवसे वह मोक्ष चले जावे। इतनी इन जीवों में विशेषता है। म्लेच्छ भूमि में रहते उन जीवों का भाव आत्मिक धर्म प्राप्त करने का कभी होता ही नहीं है यह इस भूमि की एक विशेष बात है।

भरत ऐरावत तथा विदह क्षेत्र में रहने वाले जीव आर्यक्षेत्र वासी कह जाते हैं। कर्म प्रकृति की अपेक्षासे उच्च गोत्र उदय में ही मनुष्यगति मिलती है। एक आयु में एक ही गोत्र का उदय रहता है, किन्तु गोत्रका परिवर्तन होता ही नहीं। कार्यकी अपेक्षा से अर्थात् आजीविका की अपेक्षासे व्यवहार में उपचार से गोत्रका भेद होता है, तो भी व्यवहार गोत्र परिवर्तन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्चगोत्री कहे जाते हैं, और शूद्र नीचगोत्री कह जाते हैं। जो जीव आत्मिक धर्ममें विवेकशील हैं उन्हींको ब्राह्मण कहा जाता है। जो प्रजाकी रक्षा करते हैं उन्हींको क्षत्रिय कहा जाता है। जो गोधन एवं खेती वाणिज्य करते हैं उन्हीं को वैश्य कहा जाता है। जो क्षत्रिय वैश्य की [illegible] करता है उसीको शूद्र कहते हैं। ब्राह्मण [illegible]

ब्राह्मण, वैश्य, और शूद्र की कन्याओं के साथ शादी कर सकता है। क्षत्रिय जातीय क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र की कन्याओं के साथ में शादी-विवाह कर सकते हैं। किन्तु वह ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कन्या के साथ शादी-विवाह कर नहीं सकता है। शूद्र जाति मात्र शूद्र की कन्या के साथ ही विवाह कर सकता है, परन्तु वह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्याओं के साथ शादी विवाह कर नहीं सकता है। परन्तु वर्तमान में इस प्रकार का व्यवहार देखने में नहीं आता है। आगेके कालमें मामा और फूफा की पुत्री के साथ शादी विवाह करने का रिवाज था, परन्तु वर्तमान मे इस प्रकारका व्यवहार देखने मे नहीं आता। जिससे मालुम होता है अर्थात् जिससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील है। आज जिसके साथ बैठी व्यवहार नहीं है किन्तु कल उसके साथ व्यवहार हो सकता है, इससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील है। आज जो महत्तर अस्पृश्यशूद्र है उसके साथ छूने का व्यवहार भी नहीं है परन्तु वही अस्पृश्य शूद्र यदि मुसलिम या ईसाई या क्रिश्चियन, एंग्लोइण्डियन हो जाये तो इसके साथ छूनेका व्यवहार तो वर्तमान में देखने में आता है। इससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील है।

मनुष्यगति म तीनों प्रकार के वेदों का भाव एक जीवम हो सकता है, अर्थात् स्त्री के साथ रमने का भाव, पुरुष के साथ रमने का भाव और स्त्री–पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव एक जीव में हो सकता है। यह भाव परिवर्तनशील है। किन्तु तीन प्रकार के शरीर का ढाचा जो अङ्गोपाग नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदय म बनता है, वह परिवर्तनशील नहीं है. यह ढाचा एक पर्याय म एक ही रहता है।

गृहीतमिथ्यात्व–अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मानने की बुद्धि मनुष्य पर्याय म ही होती है, और गति म गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता है इस अपेक्षा से मनुष्यगति की महिमा है।

उत्कृष्ट पात्र जीवों को आहारदान मनुष्यगति म ही दिया जाता है, और गति में यह बात नहीं है। यह मनुष्यगति की महिमा है, और गति म उत्कृष्टपात्र जीवों को आहारदानकी अनुमोदना हो सकती है।

मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतिवाले मनुष्य लघुकाल म सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व एव सयमभाव आठ वर्षके पहले नहीं हो सकता है। मनुष्यगति छोडकर और कोई गति के जीवो म दर्शनमोहनीय नामा कर्मकी क्षपणा

शक्ति नहीं है। मनुष्य गतिमें ही क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, और गति में क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह भी मनुष्यगति की महिमा है। क्षायक सम्यग्दृष्टिजीव–देव, तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें मरण कर जा सकता है, परन्तु यह तीन गतिमें रहनेवाला जीव नूतन क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं कर सकता है ?

शंका—क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवली और श्रुतकेवली के निकट में अर्थात् पादमूलमें ही होती है, ऐसा क्या नियम है।

समाधान—यह तो निमित्त की महिमा दिखाने के लिये कथन किया है, अर्थात् विशेषकर केवली श्रुतकेवली के निकट में होता है, किन्तु यह कोई खास नियम नहीं है। तीसरी नरक भूमि के नारकी जिसका तीर्थंकर गोत्रका बन्ध हुआ है वही जीव नियमसे क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है। तीर्थंकर प्रकृतिवाला मनुष्य होकर मुनि बनता है। तब दूसरे गुरुका शिष्य नहीं बनता, परन्तु मौन व्रत सहित एकल विहारी रहता है। ऐसा जीव केवली श्रुतकेवली के पास जाता नहीं है, परन्तु स्वयं श्रुतकेवली बनकर अपने परिणाम द्वारा दर्शन मोहनीय नामा कर्मकी प्रकृतियों का क्षय कर क्षायक सम्यग्दृष्टि बन जाता है। इस से

यह सिद्ध हुआ कि दूसरे कवली श्रुतकेवली के पास जाने से ही चायक सम्यग्दर्शन होता है यह नियम नहीं है। जैसे कृष्ण महाराज का जीव।

त्रेसठ शलाका पुरुष मनुष्यगति में ही होते हैं, यह मनुष्यगति की महिमा है। मन पर्ययज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यगति में ही होती है और गतिमें मन पर्ययज्ञान नहीं होता है यह मनुष्य गति की महिमा है। सप्तम नरक में जाने का भाव मनुष्य और मच्छ कर सकता है। परन्तु सिद्धगति में जाने का भाव मच्छ कभी नहीं कर सकता है, यह भाव मात्र मनुष्यगति में पुरुषलिंग को ही हो सकता है, यह मनुष्यगति की महिमा है। इससे साबित होता है कि सप्तम नरक म जाने का भाव जो कर सके वही सिद्ध गति में जाने का भाव प्राप्त कर सकता है यह नियम नहीं है। देव गति के जीव विशेष में निगोद [illegible] गुणस्थान तक के निर्मल भाव कर सकते हैं, इससे [illegible] निर्मल भाव वैक्रियिक शरीर वाले जीवो म हो नहीं [illegible] क्योंकि वैक्रियिक शरीरवाले जीवो म शुद्धि [illegible] होता ही नहीं है। मनुष्यगति ऐसी है जिसमें [illegible] पर्याय में अपना परिणाम निर्मल [illegible] तो वही जीव नर में से "नारायण" [illegible] "परमात्मा" बन सकता है। यही [illegible] महिमा है।

जिस जीव ने तीर्थंकर गौत्र का बन्ध किया है ऐसा, जीव अणुव्रत धारण करता ही नहीं है परन्तु मुनिव्रत ही धारण करता है। महान शक्ति वाला जीव अणुव्रत नहीं धारण करता है परन्तु महाव्रत ही धारण करता है।

शङ्का—उत्तर पुराण में पर्व नम्बर ५३ श्लोक नम्बर ३५ में लिखा है कि—

स्वायुरा अष्टवर्षेभ्य सर्वेषा परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणा तीर्थेशा देशसयम ॥

अर्थ—सर्व तीर्थंकरो के अपनी आयु के प्रारम के आठ वर्ष के बाद ही प्रत्याख्यान और सज्वलन कषायका उदय रहता है अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है इसलिय आठ वर्ष के बाद ही तीर्थंकरो के सयम हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि सब तीर्थंकरो क देश सयम हो जाता है तब तीर्थंकर धारण नहीं करते, यह कहना कहा तक सत्य है?

समाधान—तीर्थंकर की तो बात छोड दो परन्तु क्षायक सम्यग्दृष्टि अणुव्रत धारण नहीं करता है अपितु सीधा महाव्रत ही धारण करता है। यही बात धवलग्रन्थ नम्बर ५ पृष्ठ २५६ पर लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि क्षायक सम्यग्दृष्टि तथा सभी तीर्थङ्कर अणुव्रत

ग्रहण नहीं करते हैं। यदि तीर्थंकर अणुव्रत ग्रहण करने होते तो आदिनाथ भगवान को आहार की विधि न जानने के कारण छह मास तक आहार न मिला, यह कहना कहां तक सत्य है ? जब आदिनाथ भगवान व्रतधारी श्रावक हैं तब भी शुद्ध आहार लेते होंगे और उनके माता पिता पत्नि पुत्र पुत्री आदि भी सब शुद्ध आहार देते होंगे। इनके घरमें भी धर्म प्रभावना भी होती होगी। यदि धर्म चर्चा भी नहीं होती होगी तो उन की पुत्रियां ब्राह्मी सुन्दरी बाल ब्रह्मचारिणी कैसे रही यह सब विचारने की बात है।

श्री आदिनाथपुराण में पर्व नंबर ४१ म श्लोक नंबर २८ मे लिखा है कि 'भगवान के चरण-कमलों की भक्ति कर परिणामनकी विशुद्धतासे चक्रेश्वर भरत को अवधि-ज्ञान प्राप्त भया। धवल ग्रन्थ नम्बर ६ म सूत्र नं० २४३ पृष्ठ नंबर ४०० में कहा है कि—

मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा तमिमाभिणिवोहियणाण सुदणाण ओहिणाण च णियमा अत्थि—

इससे सिद्ध हुआ कि सर्वार्थसिद्धि से जो जो जीव मनुष्य पर्याय में आते हैं वे नियम से तीन ज्ञान सहित माता के उदरमें आते हैं। तब भरत महाराज को समवशरण म भगवान की भक्ति करते अवधिज्ञान हुआ यह कहां तक सत्य है, यह विचार करना चाहिये।

पुराण म पर्व न ४७ म लिखा है कि भरत श्रेयाम बाहुबली वृषभसेन अनतविजय महासेन वीषण गुणसेन जयसेन आदि सर्वार्थसिद्धि से ही आये हैं और उनको मुनिकी विधिका ज्ञान नही है यह कहना कहा तक सत्य है, यह विचारना चाहिये। सिद्धान्त वाक्य और पुराण वाक्यों म महान अन्तर है यह सोच समझकर उसका निर्णय करना चाहिये।

प्रश्न—सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढने म समर्थ ऋषियोंक क्या एक लाख योजन उपर उडकर गमन करने की सभावना नही है ?

उत्तर—भले ही सुमेरुके उर्द्ध प्रदेश म ऋषियों के गमन करने की शक्ति रह जाव किंतु मनुष्य क्षेत्र के ऊपर एक लाख योजन उडकर सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति नहा है, अन्यथा मनुष्य क्षेत्रक सख्यातम भाग म एसा आचार्योंका वचन नहीं वन सकता। यही सूत्र म कहा है—

पमत्त सजदप्पहुडिजाव अजोगि कवली हि।
केवडिय खेत फोसिद लोगस्स असखेज्जदि भागो॥

अर्थ—प्रमत्त सयत गुणस्थानसे लेकर अयोगी कवली गुणस्थान तक प्रत्यक गुणस्थानवर्ती जीवा ने कितना क्षेत्र स्पर्श किया है ? लोकका असख्यातवा भाग स्पर्श किया है। (ध ४ १७१)

प्रश्न—अपर्याप्तक मनुष्य मरण कर कौनसी गतिमे जाते हैं ?

उत्तर—मनुष्य अपर्याप्तक मनुष्य, मनुष्य पर्यायों से मरण कर के तिर्यंच और मनुष्य गति मे जाते हैं, क्योंकि अपर्याप्तक मनुष्यों के तिर्यच और मनुष्य इन दो आयु को छोडकर अन्य आयु के बन्ध का अभाव है। (ध ६ ४६६)

सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित मरण करके सीधा विदेहक्षेत्र मे मनुष्य नहीं हो सकता है। मिथ्यात्व अवस्था मे ही मरणकर मनुष्य विदेह क्षेत्र मे मनुष्य हो सकता है।

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै जीवका विशेष प्ररूपक अधिकार पूर्ण हुआ।

जीवों के भाव का स्वरूप

सिद्धात में जीव के पाच भाव कहे हैं। १ औदयिक २ औपशमिक ३ क्षायोपशमिक ४ क्षायिक ५ पारिणामिक भाव। जो शुभाशुभ कर्म के उदय से जीव के भाव होय उनको औदयिक भाव कहते हैं। कर्मों के उपशम से जीव के जो भाव होते है, उनको औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे कीचड के नीचे बैठने से जल निर्मल

हैं, उसी प्रकार कर्मों के उपशम होने से औपशमिक भाव होते हैं।

शंका—उपशम किसे कहते हैं।

समाधान—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति संक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डकघात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं। (ध–१–२१२)

जो भाव कर्म के उदय अनुदयरूप होवें उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

और जो सर्व प्रकार कर्मों के क्षय होने से भाव होते हैं उनको क्षायिक भाव कहते हैं।

शंका—क्षय किसे कहते हैं?

समाधान—जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेदसे प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, और प्रदेश बंध का क्षय हो जाना उसे क्षय कहते हैं। (ध १–२१५)

कर्मोपाधि रहित अर्थात् जिस में कर्म का सद्‌भाव अथवा अभाव कारण नहीं पड़ता है ऐसा स्वाभाविक भावका नाम पारिणामिक भाव है। कर्मोपाधिके भेद से और स्वरूप के भेद होने से ये ही पांच भाव नाना प्रकार के होते हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव कर्म जनित हैं, क्योंकि, कर्म के उदयसे, उपशम

मनुष्यगति म तीनों प्रकार के वेदों का भाव एक जीवमें हो सकता है, अर्थात् स्त्री के साथ रमने का भाव, पुरुष के साथ रमने का भाव और स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव एक जीव में हो सकता है। यह भाव परिवर्तनशील है। किन्तु तीन प्रकार के शरीर का ढाचा जो अङ्गोपाग नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदय में बनता है, वह परिवर्तनशील नहीं है यह ढाचा एक पर्याय में एक ही रहता है।

गृहीतमिथ्यात्व-अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मानने की बुद्धि मनुष्य पर्याय म ही होती है, और गति म गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता है इस अपेक्षा से मनुष्यगति की महिमा है।

उत्कृष्ट पात्र जीवा को आहारदान मनुष्यगति म ही दिया जाता है, और गति म यह बात नहीं है। यह मनुष्यगति की महिमा है, और गति में उत्कृष्टपात्र जीवों को आहारदानकी अनुमोदना हो सकती है।

मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतिवाले मनुष्य लघुकाल म सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं संयमभाव आठ वर्षके पहले नहीं हो सकता है। मनुष्यगति छोडकर और कोई गति के जीवा म दर्शनमोहनीय नामा कर्मकी क्षपणा करने की

आठ स्थान हैं। (ध ५-१८६)

शका—असिद्धत्व क्या वस्तु है ?

समाधान—अष्ट कर्मोंके सामान्य उदय को असिद्धत्व कहते हैं।

शका—पाच जाति, छ सहनन, छ सस्थान आदि को औदयिक भाव कहते हैं, वह किस भावमे अन्तर्गत है?

समाधान—उक्त जातियों आदिका गति नामक औदयिक भाव मे अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, इन जाति, सस्थान आदिका उदयगतिनाम कर्मके उदय का अविनाभावी सबध है। इस व्यवस्था मे लिग, कषाय आदि औदयिक भावो से भी व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि, उन भावो मे उस प्रकार की विवक्षा का अभाव है।

(ध ५-१८६)

प्रश्न—औपशमिक भाव कितने प्रकार का है ?

उत्तर—औपशमिक भाव स्थानकी अपेक्षा दो प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा आठ प्रकार का है। औपशमिक भावके सम्यक्त्व और चारित्र यह दो ही स्थान होते हैं, क्योंकि [illegible] और औपशमिक चारित्र ये दो ही [illegible] इनमें से औपशमिक [illegible] औपशमिक [illegible]

२ स्त्रीवेदउपशम, ३ पुवदके साथ नोकषाय उपशम ४ क्रोध उपशम ५ मान उपशम ६ माया उपशम ७ लोभ उपशम इस प्रकार औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। (ध ५–१६०)

प्रश्न—क्षायोपशमिक भाव कितने प्रकार का है।

उत्तर—क्षायोपशमिक भाव स्थानकी अपेक्षा सात प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा अठारह प्रकारका है। १ चारज्ञान, २ तीन अज्ञान ३ तीनदर्शन ४ लब्धि पांच, ५ सम्यक्त्वएक ६ चारित्रएक ७ देशसंयम एक, इस प्रकार है। कहा भी है कि– (ध ५–१८६)

णाणण्णाण च तहा दमण–लद्धी तहवे सम्मत्त।
चारित्त देसजमो सत्तेव य होंति ठाणाइ ॥ ६ ॥

प्रश्न—क्षायिक भाव कितने प्रकार का है ?

उत्तर—क्षायिक भाव स्थानकी अपेक्षा पांच प्रकारका है, और विकल्प की अपेक्षा नौ प्रकार का है। १ दानादि लब्धिपांच २ क्षायिक सम्यक्त्व एक ३ क्षायिक चारित्र एक, ४ केवल दर्शन एक, ५ केवलज्ञान एक, इस प्रकार है। कहा भी है कि (ध ५ १८०)

लद्धीओ सम्मत्त चारित्त दसण तहा णाण।
ठाणाइ पच खइए भावे जिण भासियाइ तु ॥

प्रश्न—पारिणामिक भाव कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—पारिणामिक भाव तीन प्रकार के हैं, १ चैतनत्व २ भव्यत्व ३ अभव्यत्व। जिस जीवमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति है वह भव्य जीव कहलाता है। जिस जीव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति नहीं है वह अभव्य जीव कहलाता है।

प्रश्न—भव्य अभव्य जीव के गुण हैं या पर्याय हैं ? यदि पर्याय है तो वह किस गुण की पर्याय है।

उत्तर—भव्य अभव्य आत्मा की श्रद्धा नामक गुणकी स्वाभाविक सहज पर्याय है। यह पर्याय स्वभाव से ही अनादि से उत्पन्न हुई, इस कारण उसको पारिणामिक भाव कहते हैं। जिस भाव में कर्म का सद्भाव अथवा अभाव कारण न पड़े जो सहज भाव हो उसीको पारिणामिक भाव कहते हैं। यह भव्य भाव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आपसे आप विलीन हो जाता है।

भव्यत्व भाव सादि सान्त भी होते हैं। पर्यायार्थिक नयके अवलम्बनसे जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व भाव अनादि अनन्तरूप है। क्योंकि तब तक उनका संसार अन्त रहित है। किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण करने पर अन्यही भव्य भाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि, प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर केवल अर्द्धपुद्गल परावर्तनमात्र काल तक संसार में

स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम उपार्द्ध पुद्गल परावर्तन ससारवाले दो समय कम उपार्द्ध परावर्तन ससार वाले आदि जीवोंके पृथक २ भव्य भाव का भी कथन कर सकता है इस प्रकार सिद्ध होजाता है कि भव्य जीव सादि सान्त भी होते हैं। (ध ७-१६७)

शका—पारिणामिक भाव तीन प्रकार के हैं या विशेष भी है?

समाधान—पारिणामिक भाव अनेक प्रकार का होता है। जैसे सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव माना है वहा मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं है तब क्या श्रद्धा नामका गुण वहा कूटस्थ रहगा? नहीं, श्रद्धानाम के गुणने कर्म उदय बिना स्वय पारिणामिक भाव से मिथ्यात्व रूप परिणाम किया है।

शका—और कोई गुणस्थान मे जीवने पारिणामिक भाव से परिणमन किया है?

समाधान—जब क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी कर्म प्रकृतिका विसयोजन कर उसी परमाणुको अप्रत्याख्यान रूप बना देता है बादमे जब वही जीव मिथ्यात्वमें जाता है वहां अनन्तानुबन्धी प्रकृतिका उदय नहा होता है तब ऐसी अवस्था में चारित्र नामका गुण पारिणामिक भाव से अनन्तानुबन्धरूप परिणमन करता है। उसी प्रकार

ग्यारहवें गुणस्थान म भी जीव पारिणामिक भाव से गिरता है।

प्रश्न—पाच प्रकारके भावों म से तीसर गुणस्थान म कौनसा भाव है?

उत्तर—तीसर गुणस्थानम क्षायोपशमिक भाव है।

शका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान स सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीवके क्षायोपशमिक भाव सभव है?

समाधान—वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय म मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से उसी का सत्ता म रहना वही उपशम और सम्यग् मिथ्यात्व कमके सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक भाव है।

शका—तीसर गुणस्थान म वहा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति क उदय होने से वहा औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है?

समाधान—नहा, क्योकि, मिथ्यात्व प्रकृति क उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति क उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहा होता है इसलिय तीसर गुणस्थान म

औदयिक भाव न रहकर क्षयोपशमिक भाव रहा है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन
निरन्वय विनाश तो करता नहीं है फिर उसे सर्वघाती
कहा है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि,
सम्यग्दर्शनकी पूर्णता का प्रतिबन्ध करती है इस अ
से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है (ध १–१६

शंका—प्रतिबन्धी कर्मके उदय होने पर भी जो
के गुणका अवयव (अंश) पाया जाता है, वह गु
क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि, गुणोंके सपूर्णरूप
घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षय
ही जो उपशम होता है वह क्षयोपशम कहा जाता है
किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय रहते हुए सम्यक्त्व
कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा स
मिथ्यात्व कर्मके सर्वघातीपना बन नहीं सकता है।
लिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है यह क
घटित नहीं होता?

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय होने
श्रद्धानाश्रद्धान कथंचित् मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्न
है। उसमें जो श्रद्धान अंश है वह सम्यक्त्व का अ
अंश है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उदय नष्ट

करता है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षयोपशमिक है।

शङ्का—अश्रद्धान भावके बिना केवल श्रद्धान भाव के ही सम्यग्मिथ्यात्व यह संज्ञा नहीं है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक नहीं है?

समाधान—उक्त प्रकार की विवक्षा होनेपर सम्यग् मिथ्यात्व क्षायोपशमिक भाव भले ही न होवें किन्तु अवयवी के निराकरण और अवयवके अनिराकरण की अपेक्षा वह क्षायोपशमिक भाव है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व के उदय रहते हुए अवयवी रूप शुद्ध आत्माका तो निराकरण रहता है, किन्तु अवयव रूप सम्यक्त्व गुणका अंश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग् मिथ्यात्व द्रव्य कर्म सर्वघाती ही होवे, क्योंकि जात्यान्तर भूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्व का अभाव है, किन्तु श्रद्धान भाग अश्रद्धान भाग नहीं होता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है। और श्रद्धान भाग कर्मोदय जनित भी नहीं है, क्योंकि इसमें विपरीतताका अभाव है। और न उनमें सम्यक्त्व मिथ्यात्व अभाव है, क्योंकि समुदायोंमें प्रवृत्त हुए शब्दोंकी उनके एक देशमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सम्यग् मिथ्यात्व क्षयोपशम भाव है।

(ध ५-१९८)

सम्यक्त्वकी अपेक्षा भले ही सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धकों में सर्वघातीपना हो, किन्तु अशुद्धनयकी विवक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धकों में सर्वघातीपना नहीं होता, क्योंकि उनके उदय रहने पर भी मिथ्यात्व मिश्रित सम्यक्त्व का कण पाया जाता है। सर्वघाती स्पर्धक तो उन्हें कहते हैं, कि जिनके उदय होने से समस्त प्रतिपक्षी गुणका घात हो जाय। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति में तो हम सम्यक्त्व का निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योंकि, यहा सद्भूत और असद्भूत पदार्थों में समान श्रद्धान होता देखा जाता है। इसलिये क्षयोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है। (ध ७-११०)

कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशमसे, सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयरूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यात्व भाव होता है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व के क्षयोपशमिकता सिद्ध होती है। किंतु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर तो मिथ्यात्व भाव के भी क्षयोपशमिकता का प्रसंग प्राप्त होता है। क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके

घाती स्पर्धकोंके उदय क्षय से, उन्हा के सदवस्थारूप उपशमसे, और सम्यक्त्व देशघाती स्पर्धकों के उदय क्षयसे, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से, अथवा अनुदयरूप उपशमसे तथा मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय से मिथ्यात्व भावकी उत्पत्ति पाई जाती है, ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति दोषका प्रसग आता है। (ध. ५–१६६)

शका—तो फिर क्षायोपशमिक भाव कैसे घटित होते हैं ?

समाधान—यथास्थित अर्थके श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है तब उनकी क्षायक सज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकों के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं।

शका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अज्ञान भाव क्यो नहीं है ?

समाधान—श्रद्धान और अश्रद्धान इन दोनों में एक साथ मिला हुआ होने के कारण सयतासयतके समान भिन्न जातीयता को प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्व का पाचो ज्ञानों मे अथवा तीनो अज्ञानो मे अस्तित्व होने का विरोध है। (ध १–२७४)

प्रश्न—पाच भावों में से किस भावका आश्रय लेकर प्रमत्तसयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

उत्तर—संयम की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

शंका—सज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि, सज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—तो सज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धक के उदयाभावी क्षय से उत्पन्न हुए संयम में मलके उत्पन्न करने में सज्वलनका व्यापार है। (ध १–१७६)

प्रश्न—आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग वाले प्रमत्तसंयत को क्षायोपशमिक भाव कैसे कहा ?

उत्तर—आहारक और आहारकमिश्रकाय योगियों में क्षायोपशमिक भाव होने का कारण यह है कि उदयको प्राप्त चार सज्वलन और सात नो कषाय, इन ग्यारह चारित्र मोहनीय प्रकृतियों के देशघाती स्पर्धकों के उपशम संज्ञा है, क्योंकि, संपूर्ण रूप से चारित्र घातने की शक्तियों का वहाँ पर उपशम पाया जाता है। तथा उन्हीं ग्यारह मोहनीय [illegible] के सर्वघाती स्पर्धकों की क्षय

क्योंकि वहा पर उनका उदय मे आना नष्ट हो चुका है। इस प्रकार क्षय और उपशम, इन दोनों से उत्पन्न होने वाला सयम क्षायोपशमिक कहलाता है, अथवा चारित्र मोह सम्बन्धी उक्त ग्यारह कर्मप्रकृतियो के उदय की ही क्षयोपशम सज्ञा है, क्योंकि चारित्र के घातने की शक्ति के अभाव की क्षयोपशम सज्ञा है। इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला प्रमादयुक्त सयम क्षायोपशमिक है। (ध ५–२२०)

प्रश्न—(सयोगकेवली के) सयोग भाव कौनसा भाव है ?

उत्तर—सयोग ये अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है कि यह योग न तो उपशम भाव है, क्योंकि मोहनीय कर्म के उपशम नही होने से योग पाया जाता है, न यह क्षायिक भाव है, क्योंकि आत्मस्वरूप से रहित योग की कर्मो के क्षयसे उत्पत्ति मानने मे विरोध आता है। योग घाती कर्मोदय जनित भी नही है। क्योंकि, घातीकर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोगी केवली मे योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातीकर्मोदय जनित ही है, क्योंकि, अघातीकर्मोदय के रहने पर भी अयोग केवली मे योग नही पाया जाता है। योग शरीर नाम कर्मोदय जनित भी नही है, क्योंकि पुद्गल

विपाकी प्रकृतियों को जीव परिस्पन्दनका कारण होने में विरोध है।

शंका—कार्माण शरीर पुद्गलविपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलों के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, संस्थान आदिका आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिये योग को कार्माण शरीर से उत्पन्न होनेवाला मान लेना चाहिये?

समाधान—नहीं! क्योंकि सर्व कर्मों का आश्रय होने से कार्माण शरीर भी पुद्गलविपाकी ही है, इसका कारण यह है कि वह सर्व कर्मोंका आश्रय या आधार है।

शंका—कार्माण शरीर के उदय विनष्ट होने के समय में ही योगका विनाश देखा जाता है, इसलिये योग कार्माण शरीर जनित है ऐसा मानना चाहिये?

समाधान-नहीं! क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो अघाती कर्मोदय के विनाश होने के अनन्तर ही विनिष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्वभाव के भी औदयिक पनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे योगके पारिणामिक पना सिद्ध हुआ। अथवा योग यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नाम कर्म के उदय का विनाश होने के पश्चात् ही योगका विनाश पाया जाता है, ऐसा मानने पर भव्यत्व भावके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्ध

के विरोधी पारिणामिक भाव की कर्मसे उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। (ध ५–२२१)

योगको यदि क्षायोपशमिक भाव माना जाय तो सयोगी जिनको योगका अभाव माना जायगा ? असल में तो योग औदयिक भाव है और औदयिक योगका सयोग कवली म अभाव मानने मे विरोव आता है।(ध ५-२२५)

प्रश्न—सक्लेश भाव किसे कहते है ?

उत्तर—असाता के बन्धयोग्य परिणामको सक्लेश-भाव कहते हैं।

प्रश्न—विशुद्धभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—साताके बन्धयोग परिणाम को विशुद्ध भाव कहते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट स्थितिसे अधस्तन स्थितियोंको बांधनेवाले जीवका परिणाम विशुद्ध इस नामसे कहलाता है। और जघन्य स्थिति से उपरिम द्वितीय तृतीय आदि स्थितियो के बांधनेवाले जीव का परिणाम सक्लेश कहलाता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योकि, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बान्धनेके योग्य परिणाम को छोडकर शेष मध्यम स्थितियो के बांधने योग्य सर्व परिणामो के भी सक्लेश और विशुद्धताका प्रसग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योकि एक परिणामक लक्षण भेदके बिना द्विभाव

अर्थात् दो प्रकारक होने का विरोध है।

शंका—वर्धमान स्थितिको सक्लेश और हीयमान स्थिति को विशुद्धका लक्षण मानलेने से भेद विरोध को प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि परिणाम स्वरूप होने से जीव द्रव्य म अवस्था को प्राप्त और परिणामान्तरों म असभव एसे वृद्धि और हानि इन दोनो धर्मों के परिणाम लक्षणत्व का विरोध है। कषाय की वृद्धि भी सक्लेश का लक्षण नहीं है। क्योकि अन्यथा स्थितिबन्ध की वृद्धि बन नहीं सकती है। तथा विशुद्धि के काल में वर्धमान कषाय वाले जीवके भी सक्लेशत्व का प्रसग आता है। और विशुद्धि के काल म कषायो की वृद्धि नहीं होती है एमा कहना भी युक्त नाही है, क्योंकि एमा मानने पर साता आदि के भुजाकार बन्धके अभाव का प्रसग प्राप्त होता है। तथा असाता और साता इन दोनो के बन्ध का सक्लेश और विशुद्धि इन दोनो को छोडकर अन्य कोई कारण नहीं है क्योकि वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। कषायो की वृद्धि केवल असाता के बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि उसके अर्थात् कषायो की वृद्धि के काल म साता का बन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार कषायो की हानि केवल साता के बन्ध का

कारण नहा है, क्योंकि यह भी साधारण है अर्थात् कषायों की हानि के कालम असाताका भी बन्ध पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि, विशुद्धिया उत्कृष्ट स्थिति में अल्प होकर गणना की अपक्षा बढ़ती हुई जघन्य स्थिति तक चली जाती है। किन्तु सक्लेश जघन्य स्थिति में अल्प होकर उपर प्रक्षेप उत्तर क्रम से अर्थात् सदम प्रचय रूप से बढ़ते हुए उत्कृष्ट स्थिति तक चले जाते हैं। इसलिये सक्लेशा मे विशुद्धिया प्रथगभूत होती हैं एसा अभिप्राय जानना चाहिये। (ध –६–१८०)

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये जीवों क भाव का अधिकार सपूर्ण हुआ।

निमित्त का स्वरूप

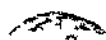
द्रव्यो की विकारी अवस्था धारण करने म जो पर द्रव्यों की सहायता ली जाती है एव सहज सहायता मिल जाती है, एसे पर द्रव्यो का नाम निमित्त है—

निमित्त दो प्रकार का है। १ प्रेरक निमित्त २ उदासीन निमित्त।

प्रेरक निमित्त—जो नियम से परिणति करावें सो निमित्त है। जैसे पवन ध्वजा के लिये प्रेरक निमित्त है। जिस दिशा मे पवन चलता होगा उसी दिशा म नियम से

धना फहराएगी। यद्यपि पवन का एक अंश ध्वजा में नहीं जाता है और ध्वजा का एक अंश पवन में नहीं जाता है। दोनों द्रव्य अपने अपने गुण पर्याय में ही स्थित रहते नत संयोग सम्बन्ध से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बन जाता है। इसी प्रकार पौद्गलिक द्रव्य कर्म का उदय जो कि एकसमयकी अवस्था है वही संसारी आत्मा के लिये प्रेरक निमित्त है। जितने अंश में कर्म का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा का गुण नियम से विकारी परिणमन करता होगा। यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध से कर्म का एक अंश आत्मामें चला नहीं जाता है, एवं तादात्म्य सम्बन्धसे आत्माका एक अंश कर्ममें चला जाता नहीं है, तो भी संयोग सम्बन्ध से दोनों में समान अवस्था हो रही है। जबतक कर्मों के साथ में आत्मा का संयोग सम्बन्ध है तब तक संसार है, और संयोग सबन्ध के अभाव का नाम मुक्त दशा है। कर्मोंका संयोग आत्मा के गुण की हीन अवस्था का प्रतिपादक है, अर्थात् सूचक है। कर्मों के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सबन्ध है।

उदासीन निमित्त—जैसे जल मछलियों के लिये उदासीन निमित्त है। जल मछलियों को चलाता नहीं है, मछलियाँ अपनी शक्ति से चलती है तो भी जल बिना मछलियाँ चल नहीं सकती है। पौद्गलिक द्र



छोडकर ससारके सभी पदार्थोंको अर्थात् अनत जीवद्रव्य, अनतानत पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, देव, गुरु, शास्त्रादि सब पदार्थों को नोकर्म कहा जाता है। इस नोकर्म का नाम उदासीन निमित्त है। आत्मामे जितने भाव होते है वह सभी भाव पर पदार्थ के आश्रित होते है। आत्मा स्वय भाव करता है परन्तु परपदार्थ बिना भाव नही कर सकता है। यद्यपि परपदार्थ आत्माका भाव करता नही है परन्तु परपदार्थ बिना आत्मा भाव कर सकता नही। देव गुरु शास्त्र आत्माका कल्याण नही कर सकते है, परन्तु देव गुरु शास्त्र का ज्ञान किये बिना कल्याण होता भी नही है। नोकर्म के साथ आत्मा के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही है परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक सबन्ध मे निमित्तके अनुकूल ही नैमित्तिककी अवस्था होती है, परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध मे उपादान मे जैसी अवस्था होती है वैसी निमित्तमे नही होती है।

जैसे देवगति नामकर्म के उदयमे आत्मा को देवरूप अवस्था धारण करनी पडगी, और मनुष्यगति नामकर्मके उदय से आत्मा को मनुष्य पर्याय धारण करनी पडती है, इसीका नाम निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे दो पुरुष बैठ है, वहा पर एक स्त्री भी सहज

ही आगयी। इसे देखकर एक पुरुषने अपने भावम विकार पैदा कर लिया तब वह मनुष्य कहता है कि स्त्री को देखकर मुझे विकार हुआ। उस स्त्री को उस पुरुषने विकार भाव करने में निमित्त बनाला। दूसर पुरुषमें विकार भाव नहीं हुवा, वह तो मात्र स्त्री को ज्ञयरूप म जानने वाला रहा। जिस प्रकार पुरुष म विकार हुआ उस प्रकार स्त्री म विकार नहीं हुवा है। जहा अपराधरूप निमित्त बनाया जाता है ऐसा सम्बन्ध का नाम निमित्त-उपादान सम्बन्ध अर्थात् भाव उदीरणा कहा जाता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में आत्मा पराधीन है और निमित्त उपादान सम्बन्ध में आत्मा स्वतन्त्र है अर्थात् औदयिकभावमें आत्मा पराधीन है और क्षायोपशमिकभावम आत्मा स्वतन्त्र है। भाव उदीरणा क्षायोपशमिकभावमें ही होती है।

प्रश्न—एक द्रव्य में दूसरे द्रव्यका अत्यन्त अभाव है तब निमित्तने क्या किया? शास्त्र विषै आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न अबद्ध स्पृष्ट कैसे कहा है?

उत्तर—ऐसा ही प्रश्न मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र में निश्चयाभासी जीवने किया है। तहा लिखा है कि सम्बन्ध अनेक प्रकारका है। तहा तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा को कर्म नोकर्मसे भिन्न कहा है। तहाँ द्रव्य पलटकरि

के योग और उपयोग रूपी निमित्त की जरजोरी से वचन रूपी पौद्गलिक वर्गणा को शब्द रूप अवस्था धारण करनी ही पड़ती है। मिट्टी की इच्छा घट रूप होने की नहीं है, परन्तु कुम्भारके योग उपयोग रूप निमित्तकी जरजोरी से मिट्टी को घटरूप अवस्था करनी ही पडती है।

कोई कहे मिट्टी ने स्वयं घट रूप अवस्था धारण की है, वचन रूपी पुद्गल वर्गणा ने स्वयं शब्द रूप अवस्था धारण की है उसमें निमित्त ने क्या किया?

प्रश्न—मिट्टीकी घट रूप अवस्था होना, वचनवर्गणा की शब्द रूप अवस्था होना यह पुद्गल द्रव्य की स्वाभाविक पर्याय है या विकारी पर्याय है?

उत्तर—यह पुद्गल द्रव्यकी विकारी पर्याय है।

शंका—यह पुद्गल द्रव्यने विकारी पर्याय किसके आधीन होकर धारण की? क्योंकि विकारी पर्याय पर द्रव्यके आधीन हुए बिना होती ही नहीं, यह न्याय है। और न्याय में तर्क चलता ही नहीं है।

समाधान—पुद्गलने स्वतन्त्र विकारी पर्याय धारण की है। निमित्तके आधीन होकर विकारी पर्याय धारण की है ऐसा कहना मैं नहीं चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा कहनेसे निमित्त की प्रधानता आजाती है जो मुझे स्वीकार नहीं है।

शंका—तब सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं विकारी पर्याय

का कर्त्ता है ऐसा क्या नहीं मानते हो ?

समाधान—ऐसा कहने से या मानने से मैं मिथ्या-दृष्टि होजाता हूँ इसमें यह बात मुझे स्वीकार नहीं है। सम्यग्दृष्टि के लिए तो विकारका कर्त्ता परद्रव्य चारित्र मोहनीय नामा कर्म है, और पुद्गलके विकारके लिए पुद्गल स्वय विकार करता है ऐसा मानने के विरुद्ध मानना मुझे स्वीकार नहीं है।

यह आपका न्याययुक्त, जवाब नहीं है, यह तो मात्र आपका हठवाद ही है। जहा हठवादहै वहा तो अज्ञान है, और जहा अज्ञान है वहा तो मिथ्यात्व है।

विकारी अवस्था मे कर्त्ता दो प्रकारका माना जाता है १ उपादान कर्त्ता २ निमित्तकर्त्ता। जहा बुद्धिपूर्वक अर्थात् इच्छा पूर्वक कर्म किया जाता है वहा कर्मका कर्त्ता उपादान कर्त्ता ही गिना जाता है, परन्तु जहा कर्म करने की इच्छा है ही नहीं परन्तु पर द्रव्यकी बरजोरी से वह कर्म किया जाता है वहा निमित्तको कर्त्ता माना जाता है। उपादान कर्त्ता को उपादानकर्त्ता जानना एव निमित्तकर्त्ता को निमित्त कर्त्ता जानना सम्यग्ज्ञान है, परन्तु उपादान कर्त्ताको निमित्तकर्त्ता जानना और निमित्तकर्त्ताको उपादान कर्त्ता जानना मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न—रागादिक होने मे आत्मा निमित्त कारण है,

जैसे जानना। यह वस्तुका स्वभाव उदय को प्राप्त है किसी का किया हुआ नहीं है। (समयसार कलश१७५)

आत्मा अपने रागादि भावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्या-ख्यान इनके द्रव्य भाव इन दोनों भेदो के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का (भेद) का उपदेश है वह उप-देश द्रव्य और भावके निमित्त नैमित्तिक भावको विस्ता-रता हुआ आत्मा के अकर्त्तापने को बतलाता है। इस-लिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिक भाव हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्त्तापने के निमित्तपने का उपदेश है वह व्यर्थ ही हो जायगा और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा (नित्य) कर्त्तापनेका प्रसंग आयेगा उनसे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिए आत्मा के रागा-दिक भावों का निमित्त "परद्रव्य ही रहे" ऐसा होने पर आत्मा रागादिक भावोंका अकारक ही है यह सिद्ध हुआ। (समयसार गाथा २८३-८५ की टीका)

शंका—सम्यग्दर्शन होनेमें अन्तरङ्ग हेतु स्व आत्मा

ही होता है ?

समाधान—यदि सम्यग्दर्शन होने म अन्तरग हेतु स्व आत्मा ही होता है तो आत्मा तो अनादि का है अभी तक सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ ? सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है—उपशम सम्यग्दर्शन २—क्षयोपशम सम्यग्दर्शन ३ क्षायक सम्यग्दर्शन । तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन होने म एक ही आत्मा अन्तरङ्ग हेतु कैसे हो सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव आदि सम्यक्त्व होने में अन्तरग हेतु है । कहा भी है कि—

सम्मत्त पडिणिबद्ध मिच्छत्त जिणवरेहि परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरेहि परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त पडिणिबद्ध कसाय जिणवरेहि परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥
—समयसार

अर्थ—सम्यक्त्व का रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनवर देवने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है । ऐसा जानना चाहिये । ज्ञान का रोकनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म है ऐसा जिनवर देवने

कहा है, उसके उदयसे यह जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चारित्रका प्रतिबंधक (रोकने वाला) चारित्र मोहनीय नामाकर्म है ऐसा जिनदेवने कहा है उसके उदयसे यह जीव अचारित्री अर्थात् कपायी हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

सम्यक्त्व मोक्षका कारण स्वभाव है, उसको रोकने वाला मिथ्यात्व है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञानको मिथ्यादृष्टि पना है। ज्ञान जो कि मोक्ष का कारण स्वभाव है उसके रोकने वाला ज्ञानावरणीय है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदयसे ज्ञानको अज्ञानीपना है। चारित्र भी मोक्ष का कारण स्वभाव है उसका प्रतिबंधक चारित्र मोहनीय है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रपना है। कर्म के स्वयमेव मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उनका तिरोधायिपना है इसी कारण कर्मका प्रतिषध (निषेध) किया जाता है।

जिस समय में कर्मका उदय है उसी समयमें आत्मा के पुरुषार्थकी हीनता ही है। आत्माके पुरुषार्थकी हीनता नहीं होती तो सामने कर्मका उदय कभी भी नहीं होता। इसीका नाम तो निमित्तनैमित्तिक संबंध है।

एक समयकी पर्याय छद्मस्थके ज्ञानका विषय ही

ही होता है ?

समाधान—यदि सम्यग्दर्शन होने में अन्तरंग हेतु स्व आत्मा ही होता है तो आत्मा तो अनादि का है अभी तक सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ ? सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है—उपशम सम्यग्दर्शन २—क्षयोपशम सम्यग्दर्शन ३ क्षायक सम्यग्दर्शन। तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन होने में एक ही आत्मा अन्तरङ्ग हेतु कैसे हो सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव आदि सम्यक्त्व होने में अन्तरंग हेतु है। कहा भी है कि—

सम्मत्त पडिणिबद्ध मिच्छत्त जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवा अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त पडिणिबद्ध कसाय जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥
—समयसार

अर्थ—सम्यक्त्व का रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनवर देव ने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान का रोकनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म है ऐसा जिनवर देवने

उत्तर—इसी अगुली म भी योग नामका गुण विकारी है ?

प्रश्न—अडोल अगुलो म और हिलती अगुली म योग नामक गुण म जो विकार है उसम क्या अन्तर है क्योंकि एक अगुली अडोल है जब दूसरी अगुली बुद्धि पूर्वक हिलाइ जाती है।

उत्तर—अडोल अगुली म योग नामकी आत्मा का गुण उदयरूप विकारी है यह औदयिकभाव है। हिलती अगुली म योग नाम की आत्मा का गुण भाव उदीरणा रूप विकारी है—यह क्षयोपशमभाव है। यह दोनों म अन्तर है।

प्रश्न—हिलती अगुली म जो भाव उदीरणा रूप योग नाम का आत्माका गुण विकारी है उसको आप मिटा दीजिये।

उत्तर—यह तो मिट सकता है क्योंकि अगुली म आत्म-प्रदश है उसी को हिलाना या अडोल रखना यह वर्तमान मेरे बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ पर आश्रित है, जिसको क्षयोपशम भाव कहते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि उदय म आत्मा का पुरुषार्थ कार्य कर ही नहीं सकता है, क्योंकि उदय एक ही समय की अवस्था है जब भाव उदीरणा म आत्मा का पुरुषार्थ

नहीं है एसी ज्ञानकी पराधीन अवस्था में रहना। कि मोह-नीय कर्म के उदय में राग करना कि नहीं करना आत्मा के हाथ की बात है यह तो मात्र मिथ्या बकवाद है। उदयमें पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता है, क्योंकि उदय एक समय की पर्याय है और एक समय की पर्याय छद्मस्थ के ज्ञान में आती नहीं। पुरुषार्थ उदीरणा अर्थात् बुद्धिपूर्वक अपराध में यदि आत्मा चाहे तो कर सकता है। जैसे आप अपनी एक अंगुली अडोल स्थिर ऊंची कीजिये, अब यहां आपसे कोई प्रश्न करे कि यह अंगुली में जो आपकी आत्मा के प्रदेश है उसमें जो योग नामका गुण है वह विकारी है या शुद्ध है ?

उत्तर—उस अंगुली में योग नामका आत्मा का गुण विकारी है, क्योंकि, यदि वह विकारी नहीं होता तो मेरे चौदहवाँ गुणस्थान होना चाहिये ? परन्तु चौदहवाँ गुणस्थान नहीं है ?

प्रश्न—उस गुणको आप शुद्ध कर दीजिये !

उत्तर—मेरे से यह शुद्ध नहीं होता है, मेरे में इतनी शक्ति वर्तमान में नहीं है।

प्रश्न—आप अपनी दूसरी अंगुली खड़ी करके हिला इये। अब कहो उस अंगुली में योग नामका आत्मा का गुण विकारी है या शुद्ध है ?

निमित्त दर्शन मोहनीय नाम कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये निमित्त अधिकार सपूर्ण हुआ।

गुरु का स्वरूप

अनादि काल से अपनी आत्मा ने कुगुरु की सेवा करने म अनन्त काल निकाला तो भी कल्याण हुआ नहीं। जो जीव अपना कल्याण करना चाहता है उसको प्रथम सुगुरु की पहिचान कर उनके चरणों में भक्ति करनी चाहिये। वह गुरु कैसा है? निर्ग्रन्थ अर्थात् जिनने अन्तरग मिथ्यात्व कषाय आदि परिग्रह का त्याग किया है और बाह्य म सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप अर्थात् तुरन्त के जन्मे हुए बालक के माफिक नग्न तथा विकार रहित अवस्था धारण की है वही निस्पृही सच्चा गुरू है। वह गुरू कैसा है? जो २८ मूलगुणों का आगम अनुकूल पालन करता है। वह मूलगुण कौनसे हैं? ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों की विजय, ६ आवश्यक किया का पालन, नग्नता, भूमि शयन, स्नान का अभाव, दत धावन का अभाव, केशलौंच करना, खड़े खड़े करपात्र म भोजन लेना तथा एक बार भोजन लेना।

कार्य कर सकता है। भाव उदीरणाको रोकना यही आत्माका यथार्थ म पुरुषार्थ है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने म किस जीवकी वाणी बाह्य निमित्त हो सकती है?

उत्तर—जो जीव व्यवहार से सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जिसको देवगुरुशास्त्र की श्रद्धा है और जिसको छ द्रव्य, नौतत्त्व, पचास्तिकाय आदि का जैसा स्वरूप है—एसा जिन को ज्ञान है वह व्यवहार से सम्यग्दृष्टि है। दर्शन पाहुडमें कहा भी है कि—

छह दव्व णव पयत्था पचत्थी सत्ततच्च णिदिट्ठा।
सदहइ ताण रुव सो सद्दिट्ठि मुणेयव्वो ॥ १६ ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नव पदार्थ, पञ्च अस्तिकाय, सप्त तत्त्व जिन वचन में कहे हैं, उनके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है उसको सम्यग्दृष्टि जानना।

एसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि अभव्य जीव जिसको देशना-लब्धि प्राप्त हो चुकी है, एसे जीवो के मुख स वाणी सुनी जावे तो वही वाणी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में बाह्य निमित्त पड सकती है। नियमसार में कहा भी है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तर हेउ भणिदा दसणमोहस्स खय पहुडी ॥ ५३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन होने में बाह्य निमित्त जिनवाणी तथा जिनवाणी जानने वाला पुरुष है, और अन्तरङ्ग

कारी वचन सहित भाषा समिति युक्त है। वह मुनिराज उद्दिष्ट आदि ४६ दोष रहित शुद्ध आहार ३२ अन्तराय और १४ मल दोष टाल कर व्रतपरिसख्यान तप सहित लेते हैं। ऐसे ऐषणा समिति सहित हैं। वह मुनिराज कमण्डल, शास्त्र आदि जो भी उठाते रखते हैं वह दया सहित अर्थात् प्रथम पीछी से झाड कर बाद म ही उठाते रखत हैं ऐसे आदान निक्षेपण समिति सहित हैं। वह मुनिराज लघुशका तथा दीर्घ शका जहा जीव जन्तु न हो ऐसी प्रासुक भूमि म जगलों में ही जाते हैं, परन्तु उनके लक्ष्य से बनाए हुए टट्टीघर म कभी जाते नहीं, ऐसे प्रतिष्ठापन समिति सहित हैं। मूलाचार म कहा भी है कि —

वणदाहकिसिमसिकदे थडिल्लेणुपरोधे वित्थिएणे।
अवगत्जतु विवित्ते, उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥३२१॥

अर्थ—दावाग्नि से जला हुआ प्रदेश, हल कर जुता हुआ स्थान, श्मसान भूमि का प्रदेश, खार सहित भूमि, लोग जहा रोके नहीं ऐसी जगह, विशाल स्थान त्रस जीव रहित स्थान, जन रहित, ऐसी जगह म मल मूत्रादि का त्याग करे।

कैसा है वह निस्पृही मुनि ? जिसने ५ इन्द्रियों तथा ५ इन्द्रियों के विषय के राग को जीत लिया है इस कारण वह जितेन्द्रिय कहा जाता है। ससार के किसी पदार्थ के

इस प्रकार २८ मूलगुणों का पालन करने वाला है। वह गुरू कैसा है? त्रस तथा स्थावर जीवों की मन वचन काय से हिंसा करता नहीं है, दूसर जीवों से हिंसा कराता नहीं है तथा जो हिंसा करता है उसकी अनुमोदना करता नहीं है। ऐसे अहिंसा महाव्रत युक्त है। वह मुनिराज हित मित आगम अनुकूल वचन बोलते हैं। जिनकी वाणी म न कटुता है न कठोरता है ऐसे सत्य महाव्रत युक्त है। वह मुनिराज पराई वस्तु लेने का भाव भी करते नहीं है ऐसे अचौर्य महाव्रत युक्त हैं। उन मुनिराज का ससार की सब ही स्त्रियों के प्रति माता, बहन, पुत्री जैसा व्यवहार है और अपने अन्तरग में रत्ती भर काम वासना आने नहीं देते। अत ब्रह्मचर्य महाव्रत सहित हैं। जिन मुनिराज के पास म एक सूत मात्र भी परिग्रह नहीं है एव परिग्रह रखने का भाव भी नहीं है। इसी कारण से बाह्य तथा अभ्यतर नग्न हैं। ऐसे अपरिग्रह महाव्रत सयुक्त हैं। वह मुनिराज चार हाथ भूमि शोधन कर, मेरे द्वारा कोई जीव का घात न हो जाव ऐसी ईर्या समिति सहित रक्षा रूप पुण्य भाव सहित मौन से गमन करते हैं, कभी भी गमन करते २ बात करते नहीं है क्योंकि एक साथ म दो उपयोग होते नहीं हैं। इस प्रकार ईर्यासमिति युक्त हैं। वह मुनिराज आगम अनुकूल ही सब जीवों के कल्याण

कारी वचन सहित भाषा समिति युक्त हैं। वह मुनिराज उद्दिष्ट आदि ४६ दोष रहित शुद्ध आहार ३२ अन्तराय और १४ मल दोष टाल कर व्रतपरिसंख्यान तप सहित लेते हैं। ऐसे ऐषणा समिति सहित हैं। वह मुनिराज कमण्डल, शास्त्र आदि जो भी उठाते रखते हैं वह दया सहित अर्थात् प्रथम पीछी से झाड़ कर बाद में ही उठाते रखते हैं ऐसे आदान निक्षेपण समिति सहित हैं। वह मुनिराज लघुशंका तथा दीर्घ शंका जहां जीव जन्तु न हो ऐसी प्रासुक भूमि में जंगलों में ही जाते हैं, परन्तु उनके लक्ष्य से बनाए हुए टट्टीघर में कभी जाते नहीं, ऐसे प्रतिष्ठापन समिति सहित हैं। मूलाचार में कहा भी है कि—

वणदाहकिसिमसिकद थण्डिल्लेणुपरोधे वित्थिण्णे।
अवगदजंतु विवित्ते, उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥३२१॥

अर्थ—दावाग्नि से जला हुआ प्रदेश, हल कर जुता हुआ स्थान, श्मसान भूमि का प्रदेश, खार सहित भूमि, लोग जहां रोके नहीं ऐसी जगह, विशाल स्थान त्रस जीव रहित स्थान, जन रहित, ऐसी जगह में मल मूत्रादि का त्याग करे।

कैसा है वह निस्पृही मुनि ? जिसने ५ इन्द्रियों तथा ५ इन्द्रियों के विषय के राग को जीत लिया है इस कारण वह [illegible] कहा जाता है। संसार के किसी पदार्थ

इस प्रकार २८ मूलगुणों का पालन करने वाला है। वह गुरू कैसा है ? त्रस तथा स्थावर जीवों की मन वचन काय से हिंसा करता नहीं है, दूसरे जीवों से हिंसा कराता नहीं है तथा जो हिंसा करता है उसकी अनुमोदना करता नहीं है। ऐसे अहिंसा महाव्रत युक्त है। वह मुनिराज हित मित आगम अनुकूल वचन बोलते हैं। जिनकी वाणी में न कटुता है न कठोरता है ऐसे सत्य महाव्रत युक्त हैं। वह मुनिराज पराई वस्तु लेने का भाव भी करते नहीं हैं ऐसे अचौर्य महाव्रत युक्त है। उन मुनिराज का संसार की सब ही स्त्रियों के प्रति माता, बहन, पुत्री जैसा व्यवहार है और अपने अन्तरंग में रत्ती भर काम वासना स्थान नहीं देते। अतः ब्रह्मचर्य महाव्रत सहित हैं। जिन मुनिराज के पास में एक सूत मात्र भी परिग्रह नहीं है एवं परिग्रह रखने का भाव भी नहीं है। इसी कारण से बाह्य तथा अभ्यंतर नग्न हैं। ऐसे अपरिग्रह महाव्रत संयुक्त हैं। वह मुनिराज चार हाथ भूमि शोधन कर, मेरे द्वारा कोई जीव का घात न हो जावे ऐसी ईर्या समिति सहित रक्षा रूप पुण्य भाव सहित मौन से गमन करते हैं, कभी भी गमन करते २ बात करते नहीं हैं क्योंकि एक साथ में दो उपयोग होते नहीं हैं। इस प्रकार ईर्यासमिति युक्त हैं। वह मुनिराज आगम अनुकूल ही सब जीवों के कल्याण

स्पर्श १८ मल १९ सत्कार पुरस्कार २० प्रज्ञा २१ अज्ञान और २२ अदर्शन। इन परीषहों को आगम के अनुकूल जीतते हैं। परीषह को कैसे जीतना चाहिये वह दृष्टान्त से दिखाया जाता है। जैसे मुनिराज आहार ले रहे हैं इतने में आहार में से बाल निकल आया जिससे मुनिराज को अन्तराय आगया। आहार लेने की भावना तो है परन्तु अन्तराय आने से आहार का त्याग किया जाता है। यदि मुनिराज ऐसा विचार करें या मुखसे बोल देवे कि मुनिका एक दफे आहार पानी है आपको साग-पानी से आहार देना चाहिये। ये विकल्प क्षुधा परीषह नहीं है, ये तो आर्तध्यान है। आहार लेने का जो भाव था वह तो पाप भाव ही है। परन्तु अन्तराय आने से उस भाव को छोडकर ध्यान अध्ययन में भाव को लगा देना उसी का नाम परीषह जीतना है।

शंका—क्षुधा तो लगी है वहां ध्यान अध्ययन में उपयोग कैसे लगे?

समाधान—जैसे एक व्यापारी को बहुत क्षुधा लगी है, समय भी भोजन लेने का हो चुका है तब वह दूकान से पगडी आदि पहन कर भोजन करने के लिए जाने को तैयार हो ... दूकान की सीढी भी उतर चुका है। इतने में ... आता है और कहता है कि

प्रति उसका राग द्वेष नहीं। वह मुनिराज छह आवश्यक क्रियाओं को प्रमाद रहित नियम से करते हैं। वे छह क्रियाएँ हैं —(१) सामायिक (२) चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति (३) एक तीर्थंकर की स्तुति (४) दिन में दो बार प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) अपने लगे हुए दोषों के निवारण के लिये प्रायश्चित लेना। वह मुनि अचेलक मूलगुण सहित है। कैसा है वह अचेलक व्रत ? मूलाचार ग्रन्थ में गाथा ३० में कहा है कि —

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथ अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥

अर्थ—कपास, रेशम, रोम तिनके बने हुए वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादि की छाल से उत्पन्न सन आदि के टाट, अथवा पत्ते, तृण आदि इनसे शरीर का आच्छादान नहीं करना, कड़े आदि आभूषणों से भूषित न होना, संयम के विनाशक द्रव्यों कर रहित होना ऐसा तीन जगत कर पूज्य वस्त्रादि बाह्य परिग्रह रहित अचेलक व्रत मूलगुण है।

कैसे हैं वह निस्पृही मुनि ? जो २२ परीषहों को जीतते हैं। कौनसे हैं वे २२ परीषह—१ क्षुधा २ तृषा ३ शीत ४ उष्ण ५ दंसमशक ६ नग्नता ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या १२ आक्रोष १३ वध १४ याचना १५ अलाभ १६ रोग १७ तृण

कता रा चिन्तान नहा करते हैं, राय से वक्रता नहीं
त हैं एव रान से भी वक्रतारूप वोलते नहीं है । जो
ते दोषा को छुपाते नहीं हैं। परन्तु गुरू के सामने
ता दोष प्रकट करते हैं ऐसे उत्तम आर्जव धर्म सहित
। जो मुनिराज समभाव अर्थात् रागद्वेष रहित और
न्तोषरूप परिणाम से तृष्णा और लोभ रूप मलको आने
हीं देते हैं व मुनि भोजन की लालसा अर्थात् अतिचारा
रहित उत्तम शौच धर्म सहित हैं। व मुनिराज जिन
ान के अनुकूल ही बोलते हैं परन्तु ऐसा प्रतिपादन कभी
नहीं करते हैं कि समयसार ग्रन्थ गृहस्थों के पढ़ने योग्य नहीं
हैं परन्तु सर्व जीवों का जैसे कल्याण हो ऐसे उत्तम सत्य
धर्म सहित हैं। वह मुनिराज स्व तथा पर जीवों की रक्षा
में तत्पर हैं। ऐसे उत्तम सयम धर्म सहित हैं। मूलाचार
में भी कहा है कि सम्यक् चारित्र पालने की सामग्री
कौनसी है ?

भिक्ख चर वस रण्णे थोव,
जेमे हि मा बहू जप ।
दुःख सह जिन णिद्दा,
मेत्तिं भावे हि सुट्ठु वेरग्ग ॥८६५॥

अर्थ —हे मुनि! सम्यक् चारित्र पालना है तो
भिक्षा भोजन कर, वनमें रह, थोडा आहार कर, बहुत मत

थोडासा कपडा दिखलाइए। तब वह व्यापारी तुरन्त वापिस लौटता है और पगडी उतार कर माल दिखाने लग जाता है। माल दिखाते दिखाते दो घंटा चला गया तो भी वहां भूख की याद नहीं आती है क्योंकि भूख की जो इच्छा थी उससे प्रबल इच्छा धन कमाने की आजाने से भूख की इच्छा से उपयोग हट जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा जीव खान की इच्छा मिटाकर उससे प्रबल इच्छा ध्यान अध्ययन में लगा कर क्षुधा परीषह को जीतता है।

कैसे हैं वे मुनिराज ? जो व्यवहार रत्नत्रय युक्त हैं जो १० प्रकार का व्यवहार मुनिधर्म अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचिन्य और ब्रह्मचर्यसे नित्य परिणाम सहित होते हैं। जो सुख दुख, तृण कंचन, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा और जीवन मरण में मध्यस्थ हैं अर्थात् जिनका समभाव रूप बर्ताव है, पूजा करने वाले के प्रति राग नहीं है और लाठी से प्रहार करने वाले के प्रति द्वेष नहीं है, इतना ही नहीं परन्तु मुख से इतना भी न बोले कि भैया ! मुझको क्या मारते हो ? ऐसे साम्य भाव सहित हैं। कैसे हैं वे मुनिराज ? उत्तम ज्ञान युक्त हैं तथा घोर तपश्चरण करने का जिनका स्वभाव है तो भी जिनकी आत्मा में तपका मद नहीं है। कैसे हैं वह मुनिराज ? मन

ग्रह शिष्य आदि तथा अचेतन परिग्रह पीछी कमण्डलु आदि म ममत्व का त्यागरूप उत्तम आकिंचिन्य धर्म सहित है। यदि शिष्यादिक म राग है तो मूलाचार ग्रन्थ म ऐसा लिखा है कि—

वर गणपवेसादो विवाहस्स पवसण ।
विवाह राग उप्पति गणो दोसाणमागरो ॥९८३॥

अर्थ—साधु कुल म शिष्यादिक म मोह करने की अपेक्षा विवाह म प्रवेश करना ठीक है क्योंकि विवाह म स्त्री आदि क ग्रहण से राग की उत्पत्ति होती है और गण तो कषाय राग द्वेष आदि सब दोषों की खानि है। जैसे हैं वह मुनिराज, जो स्त्रियोंकी सगति नहीं करते, उनके साथ बात करते नहीं। क्योंकि उनके साथ बातें करना अपने ब्रह्मचर्य व्रत म बाधा आने का कारण है। मूलाचार ग्रन्थ म कहा भी है कि—

कएण विधव अतेउरिय तह सइरिणी सलिंग वा ।
अचिरेणल्लियमाणो अववाद तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

अर्थ —कन्या, विधवा, रानी, व विलासिनी, स्वच्छारिणी, दीक्षा धारण करने वाली ऐसी स्त्रियों से क्षण मात्र भी वार्तालाप करते हुए मुनिराज लोक निंदा को पाते हैं। वह मुनिराज आर्यिका आदि से सात हाथ दूर बैठते हैं। आर्यिका को साधारण मुनि उपदेश द नहीं

जोत, दुख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतवन कर, अच्छी तरह वैराग्य परिणाम रख, यह चारित्र पालन करने की सामग्री है। यह सामग्री जिस मुनि के पास में नहीं है वह जीव मुनि पर्याय का पालन कर नहीं सकता है।

कैसे हैं वह निस्पृही गुरु ? जो इस लोक और परलोक की अपेक्षा रहित अनेक प्रकार के काय क्लेश करते हैं। शीतकाल में नदी के तटपर जाकर कायोत्सर्ग कर खड़े रहकर शीत परीषह को जीतते हैं। उष्ण काल में पर्वत के शिखर पर मध्यान्ह में खड़े रहकर आतापन योग में उष्ण परीषह को जीतते हैं। वर्षा ऋतु में पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान मुद्रा धर डांस मच्छर आदि की परीषह जीतते हैं। एसे उत्तम तप सहित हैं। वह मुनिराज मिष्ठ भोजन आदि राग द्वेष के कारण जो बाह्य साधन हैं उनके त्यागी हैं तथा ममत्व के कारण रूप वसतिका के त्याग करने वाले उत्तम त्याग धर्म सहित हैं। जो मुनिराज गांव के बाहर जनम वसतिका में रहते हैं तो भी उस वसतिका में उस मुनिराज की मूर्छा नहीं है। परन्तु कोई मुनिराज वसतिका के भीतर से सांकली लगा देवे तब वह निष्परिग्रही न रहकर परिग्रह धारी बन जाता है। जो मुनि वचन-काय मन और कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक सर्व चेतन परि-

ग्रह शिष्य आदि तथा अचेतन परिग्रह पीछी कमण्डलु अ
म ममत्व का त्यागरूप उत्तम आकिंचिन्य धर्म सहित
यदि शिष्यादिक म राग है तो मूलाचार ग्रन्थ म
लिखा है कि—

गर गणपवेसादो विवाहस्स पवसण ।
विवाह राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥६८३॥

अर्थ—साधु कुल म शिष्यादिक म मोह करने
अथवा विवाह म प्रवेश करना ठीक है क्योंकि विवाह
स्त्री आदि के ग्रहण से राग की उत्पत्ति होती है और
तो कषाय राग द्वेष आदि सब दोषों की खानि है ।
हैं वह मुनिराज, जो स्त्रियोंकी सगति नहीं करते, उ
साथ बात करते नहीं । क्योंकि उनके साथ बातें क
अपने ब्रह्मचर्य व्रत म बाधा आने का कारण है ।
चार ग्रन्थ में कहा भी है कि—

कण्ण विधव अतेउरिय तह सइरिणी सलिंग वा ।
अचिरेणल्लियमाणो अववाद तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

अर्थ—कन्या, विधवा, रानी, व विलासिनी,
च्छारिणी, दीक्षा धारण करने वाली ऐसी स्त्रियों से
मात्र भी वार्तालाप करते हुए मुनिराज लोक निंदा
पाते हैं । वह मुनिराज आर्यिका आदि से सात हाथ
बैठते हैं । आर्यिका को साधारण मुनि उपदेश द

मस्त हैं। उपदेश देने का अधिकार मात्र आचार्य को ही है। मूलाचार में कहा है कि—

गभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदूहल्लो य ।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥

अर्थ—गुणों कर अगाध हो, परवादियों से दबने वाला न हो, थोड़ा बोलने वाला हो, अल्प विस्मय हो, बहुतकाल का दीक्षित हो और आचार, प्रायश्चित आदि ग्रन्थों का जानने वाला हो, ऐसा आचार्य आर्यिकाओं को उपदेश दे सकता है।

ऐसी है वह आर्यिका, जो शरीरका संस्कार करती नहीं है परन्तु अपने ज्ञान ध्यान में रमण करती है मूलाचार में कहा भी है कि—

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१९०॥

अर्थ—जिनके वस्त्र विकार रहित होते हैं, शरीर आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पसेव व मलकर लिप्त है तथा संस्कार (सजावट) रहित हैं, क्षमादि धर्म, गुरु आदि की संतान रूप कुल, यश, व्रत, इनके समान जिनका शुद्ध आचरण है ऐसी आर्यिकायें होती हैं।

संसार की सभी स्त्रियों को देखकर जिनके भीतर में विकारभाव उत्पन्न होता नहीं है ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

रहित हैं। इसी प्रकार दश प्रकार के मुनि धर्म का पालन करने वाले हैं।

कैसे हैं वह मुनिराज ? जो शरीर का संस्कार, तेल-मालिश, शरीर के प्रति अनुराग से रहित हैं। मूलाचार में भी कहा है कि—

मुहणयणदंतधोयणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ॥ ८३७ ॥
धूमणवमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव।
णत्थुयवत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ॥८३८॥

अर्थ—मुख, नेत्र और दांतों का धोना, शोधना, पखालना, उबटना करना, पैर धोना, अंग मर्दन करना, मूठी से शरीर का ताडन करना, काठ के यन्त्र से शरीर का संस्कार करना, कंठ शुद्धि के लिए वमन करना, औषधादिक द्वारा दस्त लाना, नेत्रों में अंजन लगाना, सुगन्ध तेल मर्दन करना, चन्दन कस्तूरी का लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिका कर्म, वस्ती कर्म करना, नसों से लोहू का निकालना ये सब संस्कार अपने शरीर में साधुजन नहीं करते हैं।

नग्न दिगम्बर मुनियों में शक्ति की अपेक्षा से दो भेद किये गये हैं—१ जिन कल्पी, २ स्थविर कल्पी।

... उनको कहते हैं जिनमें देव,

तिर्यञ्च कृत आये उपसर्ग को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगई है। शरीर में रोग आजाने से भी जो अपने हाथ से भी अपनी वैयावृत्य करते नहीं है ऐसे मुनिराज को एकल विहार करने की आज्ञा है क्योंकि उनमें सिंह-वृत्ति जाग्रत हुई है। मूलाचार ग्रन्थ में गाथा १४६ में लिखा है कि–

तवसुत्तसत्तएगत्त भाव संघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआयागमबलियो एयविहारी अणुण्णादो ॥१४६॥

अर्थ —तप आगम शरीर बल अपने आत्मा में ही प्रम, शुभ परिणाम, उत्तम संहनन और मनका बल, क्षुधादि न होना, इन गुणों कर संयुक्त हो तथा तप कर आचार सिद्धान्तों कर बलवान हो अर्थात् चतुर हो, वह एकल विहारी साधु कहा गया है। स्थविरकल्पी उसको कहते हैं जिस मुनिराज में देव, मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को सहन करने की शक्ति नहीं है, रोगादिक आजाने से वैयावृत्य करने की भावना है ऐसे मुनियों को स्थविर कल्पी कहा जाता है। वह नियम से आचार्य के संघ में ही निवास करें। ऐसे मुनिको एकल विहार करने की आज्ञा नहीं है। परन्तु कोई मुनि आज्ञा विरोध कर एकल विहार कर, ऐसे पाखंडी मुनि को आहारदान ... नहीं मुनि धर्म की रक्षा करने का उत्तम ...

मूलाचार ग्रन्थ म भी गाथा ६५६ म कहा है कि—

आयरियकुल मुचा विहरदि, समणो य जो दु एगागी ।
ण य गेण्हदि उवदेस पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥६५६॥

अर्थ—जो श्रमण सघको छोडकर सघ रहित अकेला विहार करता है और दिये उपदेश को ग्रहण नहा करता वह पाप श्रमण कहा जाता है।

ऐसा पापी श्रमण यद्यपि आचार्य नाम धराता है तो वह भी स्वय डूबता है और दूसरे जीवो को भी डुबाता है। ऐसे श्रमणो से दूर रहना ही कल्याण का मार्ग है। मूलाचार म भी गाथा ६६३ म कहा है कि—

आयरियत्तणमुरणयइ जो मुणी आगम ण याणतो ।
अप्पाणपि विणासिय अण्णेवि पुणो विणासेई ॥६६३॥

अर्थ—जो मुनि आगम को नहा जानता, अपने को आचार्य मान लेता है वह अपना नाश कर दूसरो को भी नष्ट करता है।

निस्पृही गुरु नियम से भूमि म ही शयन करते हैं। क्योंकि घास, चटाई, आदि रखना परिग्रह है। और मुनिराज परिग्रह से रहित हैं। इस कारण नियम से भूमि में ही शयन करते हैं। मूलाचार म भी गाथा ३२ मे कहा है कि—

विचारना चाहिये। चारित्र पाहुड की गाथा ३४ में कहा है कि—

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास ज परोध च ।
एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसविसवादो ॥३४॥

अर्थ—शून्यागार कहिये गिरी, गुफा, तरु, कोटर आदि विषै निवास करना बहुरि विमोचितावास कहिये जो लोग कोइ कारणसे छोड़ दिया है ऐसा उजड गृह ग्राम आदि विषै निवास करना, बहुरि परोपरोध पर का जहाँ उपरोध कहिये वस्तिकादिक को अपनाय पर को वर्जना ऐसा न करना। बहुरि एषणा शुद्धि कहिये अहार पानी ४६ दोष टाल कर शुद्ध लेना। बहुरि साधर्मी तै विसवाद न करना। ये पाच भावना तृतीय अचौर्य महाव्रत की हैं।

यदि मुनिराज, ग्राम, नगर में रहने लगे तो अचौर्य महाव्रत की भावना का नाश हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मुनिराज नियम से जगल में ही रहते हैं। बोध पाहुड की गाथा ४२,४३ में भगवन्त कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है कि—

सुण्णहर तरहिट्ठे उज्जाणे तहमसाणवासे वा।
गिरिगुहगिरि सिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
सेवसासत्त तित्थ वचचइ दाल त य च वुत्ते हि।
जिण भवण अह वेज्झ जिणमग्गे जिणवरा विति॥४३॥

अर्थ—सूना घर, वृक्ष का मूल, उद्यान, वन, मसान भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का भयानक वन अथवा वस्ती इन विषै दीक्षा सहित तिष्ठै हैं।

बहुरि स्ववशासक्त कहिये स्वाधीन मुनिरा आसक्त जे क्षेत्र तिनमें मुनि वसे। बहुरि जहाँ से मुि ऐसे तीर्थ स्थान में मुनिराज वसे। बहुरि चैत्याल जिन भवन कहिये अकृत्रिम चैत्यालय, मन्दिर ऐ जिन मार्ग में जिनदेव ने दीक्षा सहित मुनिराज क योग्य चिंतवन करने योग्य कहा है। इससे भी सि है कि मुनिराज प्राय: कर जंगल में ही रहते हैं पाहुड में प्रव्रज्या का स्वरूप का वर्णन करते भगव कुंद आचार्य गाथा ५६ में लिखते हैं कि—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेइ सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६।

अर्थ—कैसी है मुनिराज की प्रव्रज्या—उपस देव मनुष्य, तिर्यंच, अचेतन कृत उपद्रव और कहिय कर्म योग ते आये २२ परिषह तिन्हें सम सहना। जो ऐसी प्रव्रज्या दीक्षा सहित मुनिराज है अन्य जन नाहि ऐसे निर्जन वन आदिक प्रदेश निवास करें शिला पर, काष्ठ भूमि तल

इन सबही प्रदेशों के आरोहण कर बैठें, सोवें। सर्वत्र फिरने से वन में ही रहें और किंचित् काल नगर में रहें तो नगर के बाहर वन में रहें।

स्वामी कार्तिकेय 'अनुप्रेक्षा' में भी मुनिराज के स्वरूप का वर्णन करते हुए गाथा ४४७ में लिखा है कि—
जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महा भीमे।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि ॥४४७॥

अर्थ—श्मशान भूमि में, गहन वन में, जहां लोगों का आवागमन न हो ऐसे निर्जन स्थान में। महा भयानक उद्यान वनमें तथा ऐसे एकान्त स्थान में मुनिराज रहते हैं। वही मुनिराज निश्चय से विविक्तशय्यासन तप वाले हैं।

आदिनाथ पुराण में भी पर्व संख्या ३४ गाथा १७७ से १८६ में लिखा है कि "मुनिराज सिंहादि क्रूर जीवनि करि युक्त जे गिरि-शिखर, गिरि कन्दरा, वन, तिन विषै प्रतिदिन बसते भये। साधु का यही धर्म है जो एक स्थान न रहे, रमता रहे ॥१७७॥

सिंह, रीछ, सियालनी, सारदूल, चीता, इत्यादि दुष्ट जीवनि करि भयानक जो वन ता विषै मुनिराज रमै हैं। कैसा है वह वन सिंहादि के शब्द करि भयंकर है ॥१७८॥ महा कठोर सारदूलनिका गर्जना ताकि प्रतिशब्द करि गुंजते पर्वत के शिखर अथवा तट विषै मुनिराज निर्भय तिष्ठत भये ॥१७९॥ सिंहनी के बच्चा, तिनके कठोर शब्द ता

करि शब्दायमान जो वन ता विषै भय रहित मुनि
वसते भये ॥१८०॥ नाचै है विना सिर के कबन्द (ध
अर आसपास विचरै हैं डाकिनि के समूह और
प्रचण्ड घूघूनि के शब्द तिन करि भयकर जो वन,
विषै मुनिराज निवास करते भये ॥१८१॥ और सियालि
के अमंगलिक शब्द तिन करि शब्दायमान हो रही है
दिशा जहां ऐसे मसान तिन विषै मुनिराज रात्रि व्य
करते भये ॥१८२॥ इत्यादि ॥

वराग चरित्र में भी पर्व न० ३० श्लोक सं०
२७ में लिखा है कि एक दिन मसान में सामायिक
लीन होते थे तो दूसरे दिन ही अत्यन्त सघन दुर्गम
के पर्वतो की भीषण गुफाओं म ध्यानारूढ हो जात
यदि कभी सुन्दर उद्यान में समाधीष्ट होने का अव
आता था तो वे मुनिराज प्रसन्न न होते थे इसी प्रकार
के खोखल म बैठे रहने में भी उन्हें असुविधा न होती
॥२६॥ जिस दुर्गम स्थान पर सिंह, केशरी, हाथी,
जम्बुक घातक गीद आदि पक्षी भीषण विषैले सर्प
निशाचर रहते थे। जो स्थान मुनि के कर्ण कटु
योग व्याप्त रहता था। उसी भयंकर स्थान पर
श्रेष्ठ तपस्वी वराग आदि मुनिराज वास करते थे ॥
मूलाचार ग्रन्थ में भी लिखा है कि मुनिराज कहा बसे

एयाग्णो अविहला नसति गिरिकन्दरपु सप्पुरिसा ।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥७८७॥

अर्थ—सहायता रहित, उत्साह सहित, धीर वीर, दीन वृत्ति–रहित महावीर स्वामी के वचनो म रमते हुए, एसे श्रेष्ठ मुनिराज, पहाड की गुफाओं म रहत है ।

नमधिसु अप्पाडिनद्धा ण ते ममत्ति करेंति वसवीसु ।
सुण्णागारमसाणे वसति ते वीरवसदीसु ॥७८८॥

अर्थ—वैसतिकाओ म ममता रहित अभिप्रायवाले वे साधु वसतिकाओ म ममता नही करते और वीर पुरुषो के रहने के स्थान एसे शून्य स्थान, श्मशान भूमि आदि स्थान उनम रहत हैं ।

प भारकदरेपु य कापुरिसभयकरेसु सप्पुरिसा ।
वसधी अभिरोचति य सावदबहुघोरगभीरा ॥७८६॥

अर्थ—पर्वतों क निकु जोम व जल कर किटारे; पर्वतो के दराडा म जो कि सत्वहीन पुरुषो को भय के उपजाने वाले हैं ऐसे स्थाना म सिह व्याघ्र आदि कर अति गहन भयानक स्थानो म गम्भीर स्वभाव को धारने वाले श्रेष्ठ मुनि रहने की रुचि करते है ।

एयतम्मि वसता वयवग्घतरच्छयच्छभल्लाण ।
आगु नियमारसिय सुण ति सद्द गिरिगुहासु॥७६०॥

अर्थ—एकात में पर्वतो की गुफाओ में वसते साधु,

भेडिया, बाघ, चीता, रीछ, इनके आगुञ्जित आरसित शब्द सुनते हैं, तो भी सत्व से चलायमान नहीं होते।

रत्तिचरसउणाण णाणा रुदिदमीदमहाल।
उएणावेंति वणत अत्थ वसतो समणसीहा ॥७६१॥

अर्थ—रात्रि में विचरने वाले घू घू आदि पक्षियों के नाना प्रकार के रोने सहित भयकर शब्द जिस वन के मध्य में गर्जना करते हैं उसी वनमें मुनिराज रहते हैं।

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकटयकदरगुहासु।
जिणवयणमणुमणता अणुविग्गमणा परिवसति ॥७६२॥

अर्थ—सिंह के समान मनुष्यों में प्रधान ऐसे मुनिराज जिनागम का निश्चय श्रद्धान करते उद्वेग रहित स्थिर चितवाले हुए पर्वत के अधोभाग, ऊपर भाग, अथवा गुफा में रहते हैं।

सावदसय णुचरिये पडिभयभीमधयारगभीर।
धम्माणु रायरत्ता वसति रत्ति गिरिगहासु ॥ ७६३ ॥

अर्थ—बाघ आदि क्रूर जीवों कर सेवित चारों तरफ भयानक अति अंधकार कर गहन ऐसे वन के पर्वतों की गुफाओं में चारित्र के आचरण में तत्पर मुनिराज रात में निवास करते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि निस्पृही दिगम्बर [illegible] से जगलों में ही रहते हैं इसमें कोई शंका [illegible]

है। ऐसे निस्पृही गुरू विविक्त शय्यासन नामका तप जंगलों में ही कर सकते हैं नगरी के बीच में ऐसा तप होता नहीं। मूलाचार ग्रंथ में गाथा ३५७ में भी लिखा है कि—

तरिसरी माणुस्सिय सविकारिणिन्तिगेहिमसत्ते।

वज्जंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥३५७॥

अर्थ—गाय आदि तिर्यञ्चिनी कुशील स्त्री, भवन-वासिनी व्यंतरी देवी असंयमी गृहस्थ—इनके रहने के निवासों में अप्रमत्त—यत्नाचारी मुनि शयन, आसन और खड़ा रहना इन तीन कार्यों को छोड़े अर्थात् वहां शयनादि न करे।

इससे आपको सन्तोष हुआ होगा कि निस्पृही गुरू नियम से जंगल तथा पहाड़ों में ही रहते हैं। यही मुनियों का सनमार्ग है। इसके अलावा और कोई मार्ग है ही नहीं। मूलाचार ग्रन्थ में गाथा ९४९—९५० में लिखा है कि मुनि महाराज कहां रहें और कहां न रहें इससे भी सिद्ध होता है कि मुनि महाराज जंगल में ही रहते हैं।

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं।

दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥९४९॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, आदर का अभाव हो मूर्खता अधिक हो जहां नेत्र आदि इन्द्रियों के विषयों की अधिकता हो, जहां शृंगार आदि भावों

सहित स्त्रियां अधिक हों, जेरा अधिक हो, उपसर्ग बहुत हों ऐसे स्थानों को मुनि अवश्य छोड दें।

गिरि कंदर मसाण सुण्णागार रूक्खमूल वा।
ठाण विराग बहुल धीरो भिक्खू णिसेवऊ ॥ ९५० ॥

अर्थ—पर्वत की गुफा, समान भूमि, सूनाघर और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्य के कारण स्थानों में धीर मुनि रहे।

इससे सिद्ध हुआ कि मुनि महाराज नगरी में बसते नहीं हैं परन्तु जंगलों में ही निवास करते हैं। जैनधर्म के सभी तीर्थक्षेत्र जंगलों में ही क्यों बनाए गये? इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि जैन दिगम्बर मुनिराज पहाड एवं जंगलों में ही बसते थे, जिस कारण से ऐसे मुनिराज के निवास स्थान क्षेत्र बन गये।

नगरियों में खास करके पांच इन्द्रियोंके विषयी पुरुष रहते हैं वहां फैशन की लहरों में समाज डूबी हुई है जिससे फैशनेबिल चटकीला पोशाक देखकर साधारण जीवों का वीर्यपात हो जाय। ऐसी विलासी नगरियों में वीतरागी मुनि का क्या काम है? आजकल बम्बई दिल्ली जैसी विलासी नगरियों में बाग में तो नग्नरूप दिगम्बर मुनि बसने लग गए अपने संयमभाव का क्या पालन करते होंगे यह विचारने की बात है। ऐसे ...

... कहा है।

निस्पृही दिगम्बर मुनि जो जंगल तथा पहाड़ों में ही रहते हैं आगम अनुकूल जिनका आचरण है जो परिषहको जीतते हैं ऐसे गुरुओं की नवधा भक्ति होती है। नवधाभक्ति का नाम एक प्रतिग्रहन, दूसरा ऊँचा आसन, तीसरा पाद प्रक्षालन, चौथी पूजा, पाँचवाँ नमस्कार, छठी मन शुद्धि, सातवीं वचन शुद्धि, आठवीं काय शुद्धि, नवमी आहार पानी शुद्धि ये नौ प्रकार की भक्ति मात्र छठवें गुणस्थान वाले मुनिराज की ही होती है।

जो मुनिराज बाह्य में तो नग्न दिगम्बर हैं परन्तु शीतकाल में शीत परिषह सहन न होने से घास ओढ़ते हैं, कोई कोई तम्बू सा बनवाकर भीतर में घुस जाते हैं, कोई कोई काठ का बक्सा बनवा करके उपरसे तिरपाल आदि डालकर भीतर जो जाते हैं तथा जो मुनिराज अपने निज के लिये बनाई हुई टट्टी आदि में शौच जाते हैं जो एकल विहार कर निर्गल प्रवृत्ति करते हैं, साथ में ७-८ चटाई, शास्त्र के बकस, घड़ी, लालटेन, चश्मा आदि के परिग्रह रखते हैं वह यथार्थ में गुरु नहीं हैं शास्त्र में शास्त्रों में ऐसे जीवों को द्रव्य लिंगी भी नहीं कहा है परन्तु वह तो दिगम्बर अवस्था के मात्र वेषधारी हैं ऐसे जीवों की नवधा भक्ति होती नहीं है।

शंका—आगम अनुकूल चरिया करने वाले मुनिराज

देखने में न आवे तो ऐसे वेषधारी की भक्ति करने में क्या बाधा है ? यह हम से तो अच्छे हैं ?

समाधान—ऐसे वेषधारी को गुरु मानना मिथ्यात्व है। जिनेन्द्रदेवके कथन पर आपको एतबार नहीं है। जिन मुनिराज को गौतम गणधर नमस्कार करें वह मुनिराज कैसे होते होंगे ? गौतम गणधर जानते हैं कि सब मुनिराजों में अचिंत्य शक्ति है, यह सोचकर गौतम गणधर नमस्कार करते हैं।

आज का नव दीक्षित मुनि यदि दो घड़ी स्वभाव में स्थिर हो जावे तो गौतम गणधर से पहिले उन्हीं का शिष्य भी केवलज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। सब मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह समान हैं दूज तीज आदि के चन्द्रमा की तरह मुनिराज कलाहीन नहीं होते हैं। कलाहीन तो श्रावक का पद है। मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हैं। यदि पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सम्पूर्ण कलावान मुनिराज न मिलें तो श्रद्धा तो रक्खो कि मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह ही होते हैं कलाहीन होते नहीं हैं। जैसे वर्तमान में तीर्थंकर नहीं होते हैं तो क्या कोई वेषधारी को तीर्थंकर माना जावेगा ? भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी चारित्र पाहुड की गाथा २७ में लिखते हैं कि—

एव सावयधम्म सजमचरण उदसिय सयल ।
सुद्ध सजमचरण जईधम्म णिक्कल वोच्छे ॥२७॥

अर्थ—ऐसा है श्रावकधर्म कला सहित है । एक देशको कला कहिये है । अब यतिधर्म का सयमाचरण है उसे कहूँगा । ऐसा है यति धर्म, शुद्ध है निर्दोष है जामे पापाचरण का लेश नाही है बहुरि निकल कहिये कला तै नि क्रांत है सम्पूर्ण है पूर्णिमा के चन्द्र की तरह है । श्रावक धर्म की तरह एक देश नहीं है ।

इससे सिद्ध होता है कि सभी मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हैं ऐसे गुरू पूजा करने योग्य, वन्दन करने योग तथा नवधाभक्ति करने योग्य है । ऐसी श्रद्धा रखना परन्तु हमसे अच्छे हैं ऐसे मानकर ऐसे वेषधारी की सेवा भक्ति आदि करना योग्य मार्ग नहा है परन्तु विपरीत मार्ग है ।

जिन मुनिराज को आगमज्ञान नहीं है वह व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है । जो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है उसका व्यवहार से चारित्र कैसे हो सकता है ? ऐसा जीव बाह्यमें नग्न दिगम्बर है तो भी वह व्यवहार से गुरू नहीं है । प्रवचनसार ग्रन्थ म गाथा २३३ म लिखा है कि—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं पर वियाणादि ।

अवि जाण तो अट्ठे खवेदि कम्माणिकिध भिक्खु ।२३३।

अर्थ—जो श्रमण आगमहीन है वह अपनी आत्मा को एव पर पदार्थोको नहीं जानता है। ऐसा श्रमण कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा ? अर्थात् कर नहीं सकता है। तथा इस ग्रन्थ की गाथा २६६ म लिखा है कि—

आगम पुव्वा दिठी ण भवदि जस्सेह सजमोतस्स ।
णत्थीदि भणदिसुत्त असजदो होदि किव समणो ।२३६।

अर्थ—इस लोक म जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है उसके सयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है तो ऐसा आगम रहित असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

भगवान कुन्दकुन्द आचार्य दर्शन पाहुड की गाथा २ म लिखते हैं कि—

दसणमूलो धम्मो उवइठो जिणवरेहि सिस्साण ।
त सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वदिव्वो ॥२॥

अर्थ—जिनवर देव क शिष्य गणधर देव ने धर्म उपदेश्या है सो कैसा धर्म उपदेश्या है ? धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ताते आचार्य उपदेश करते हैं कि हे भव्य, जीवो सर्वज्ञ के कहे धर्म का मूल रूप सम्यग्दर्शन को धारण करो। जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वह वरने [illegible] हैं। गाथा न० ३ में भी कहा

एक ही कोठे म बैठती है तथा एलक क्षुल्लक आदि व्रती अव्रती श्रावक भी एक ही कोठे म बैठते हैं, इससे सिद्ध होता है कि पचम गुणस्थानवर्ती जीव पूजा करने योग्य नहीं है। हमारे शास्त्रों है। तभी तो समोशरण म अलग कोठा नहीं बना? इससे सिद्ध हुआ कि पचम गुणस्थान वाले उत्कृष्ट पद के धारी जीवों की भी पूजा होती नहीं है और जो पचम गुणस्थान म निमत्रण से भोजन लेते हैं ऐसे जीवों की मन शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि नाम की भक्ति नहीं होती है क्योंकि उन्होंने निमत्रण माना है अर्थात् अपने चोके म जो आरम्भ आदि हिंसा होती है उसम उसकी अनुमोदना आजाती है जिस कारण से मन-शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि नामकी भक्ति नहीं होती है परन्तु यह तीन भक्ति जो उद्दिष्ट आहार के त्यागी हैं उनकी ही होती है।

शका—मनशुद्धि, वचनशुद्धि तथा कायशुद्धि का परमार्थ अर्थ क्या है?

समाधान—हे नाथ! यह चौका लगाने म मैंने मन से भी विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने मेरे निजके लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है। हे नाथ! यह चौका लगाने में मैंने वचन से भी विकल्प नहीं किया है

कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने अपने निज के लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है। हे नाथ! यह चौका लगाने में मैंने काय से भी ऐसी चेष्टा नहीं की है कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने निज के लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है।

आप विचार करिये कि प्राय करके चौका आप मुनिराज के लिए ही लगाते हो और नवधाभक्ति में बोलते हो कि महाराज! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, इसमें आपको कितना दोष लगता होगा? जो जीव अपने गुरूके सामने झूँठ बोलते हैं वह कितने पाप के भागीदार बनते होंगे, आप शांति से विचार कीजिये? मुनिराज भी जानते हैं कि यह चौका मेरे लिए ही लगाया गया है तो भी एसा उद्दिष्ट आहार लेनेवाले मुनिराज कितने दोषी होंगे? छोटी आखडी तोड़नेवाले को लोक म पापी कहा जाता है, जब इतनी बड़ी आखड़ी तोड़नेवाला किस गति का पात्र बनेगा यही शांति से विचारिये?

उत्तममार्ग तो यह है कि जब कोई मुनिराज अपने ग्रामके नजप पधारे तब से अपनी शक्ति अनुसार ऐसा नियम करो कि मैं इतने दिन तक, इतने पक्ष तक [illegible] शुद्ध आहार लूगा। बादमें अपने

लिये आहार बनाइये और पात्र जीवों को दान दीजिये। तब आप उद्गम आदि दोषों से तथा मुनिराज भी उद्दिष्ट आहार आदि दोषों से बच सकते हैं और दोनों के धर्मकी बढ़वारी हो सकती है।

ऐसे पात्र जीवोंको चार प्रकारका दान देना चाहिए— १ आहारदान, २ औषधदान, ३ अभयदान, ४ शास्त्र-दान। इन चारों ही प्रकार के दानोंमें उत्तमदान ज्ञानदान ही है। क्योंकि आहार दान देनेसे पात्र जीव एक दिनकी क्षुधा नामके रोगसे मुक्त हो सकता है। औषधदान देनेसे पात्र जीव महीना दो महीना वर्ष आदि तक रोग से मुक्त हो सकता है। अभयदान देने से पात्र जीव एक आयु तक भय से मुक्त हो सकता है और ज्ञानदान देनेसे जीव अनंत भव का जन्म मरण नाश करके सिद्ध पद की प्राप्ति कर सकता है। इसलिये सब जीवों को ज्ञानदान नियम से देना चाहिये। भगवान के समवशरण में भी तो ज्ञानदान की ही महिमा है और किस बात की महिमा है? ज्ञानदान की ओर समाज की भावना नहीं है। उसका मूलकारण यह है कि पात्र जीवों को खुद को ज्ञान की महिमा आती नहीं है जिससे वह ज्ञानदान देने की प्रभावना कैसे करें? ज्ञान दान वही कर सकता है जिसको ज्ञान की महिमा है और उसी प्रकार ज्ञानदान आदि से निस्पृही गुरू की सेवा

ना वही सच्ची भक्ति है और वही भक्ति परम्परा मोक्ष कारण बन सकती है।

शका—पात्र जीवोंको जो अन्तराय आता है वह सके दोषसे आता है?

समाधान—अन्तराय पात्र जीवों के पापका उदय नु ता है किन्तु दातार के दोषसे पात्र जीवों को अन्तराय ा आता है। दातार को तो उसी समय में ही पुण्यका ध पड़ता है, क्योंकि, दातार का तो आहार दान देने ही भाव था। दातारके पुण्यका ही उदय है नहीं तो त्र जीव उसके घर कैसे आते?

प्रश्न—मध्यम पात्र अपने चौके में पधारे हुए हैं, को तुरत आहार न देकर दूसरे के चौके में मुनि ाराज आहार लेते हैं उन्हें पहले अपने चौकेका सामग्री ा से विशेष पुण्य बन्ध होता है या नहीं?

उत्तर—इस प्रकार का व्यवहार उचित नहीं है। पने चौकेमें पधारे हुए मध्यम पात्रका अनादर कर मुनि ाराजको प्रथम आहार दानमें सभी सामग्री देऊं तो के विशेष पुण्य बन्ध होगा यह मान्यता मिथ्यात्व भित है, क्योंकि, पुण्य बन्ध का कारण आहार दानकी हीं है, परन्तु मद कषायरूप भक्ति का भाव है। उत्तर

पात्रको सहित आहार दान देना

उसका अनादर नहीं करना यही उत्तम पुण्य बन्ध का कारण है।

शंका—तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि, 'विधिद्रव्य दातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः। ७–३६। अर्थात् उत्तम पात्र को दान देने से उत्कृष्ट पुण्य बन्ध पड़ेगा तथा जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य पुण्य बन्ध पड़ेगा। यह क्यों कहा है?

समाधान—सूत्रका परमार्थ अर्थ आपके समझ में नहीं आया। इधर उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य पात्रका भेद लेनेका नहीं परन्तु पात्र कुपात्रादिकके भेद से पुण्य बन्ध में भी भेद पड़ता है यह सूत्रका परमार्थ अर्थ है।

शङ्का—पात्र कुपात्रादिक में कैसे पुण्य बन्ध में भेद पड़ता है, और पात्र कुपात्रका क्या स्वरूप है?

समाधान—जिसको देव गुरु और व्यवहार धर्मकी श्रद्धा है वही पात्र जीव है। जो क्षुधा तथा रोगादि अठारह दोषों रहित वीतराग सर्वज्ञ है वही देव है। जो नग्न दिगम्बर मुद्राधारी चौदह अभ्यन्तर तथा दश बाह्य परिग्रह रहित है वही गुरु निग्रंथ है। और दयामयी धर्म है एसी जिन जीवोंकी श्रद्धा है एसे पात्र जीवों को दान देने से उसके फल में भोग भूमि एवं उत्तम स्वर्गों के सुखके साथ परम्परा मोक्ष मिलता है।

जिन जीवोंकि देवकी श्रद्धा मे विपरीतता है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग देव तो मानते हैं परन्तु उनको अठारह दोषा सहित मानते हैं। गुरु निर्ग्रंथ मानते हैं परन्तु गुरु वस्त्र पात्रादि रखता है अर्थात् परिग्रहधारीको गुरु मानते हैं यह गुरु के स्वरूप म विपरीतता हुई। तथा धर्म का स्वरूप यथार्थ मानते हैं एसे जीव कुपात्र हैं। ऐसे कुपात्रों को पात्र मानकर जो दान देत हैं उन्ह उसके फल म भोग भूमि, तथा सुदेवो का पद मिलता है परन्तु परम्परा मोक्ष नहीं मिलती है यह फल मे विपरीतता है।

जिन जीवोंको देवकी श्रद्धाम विपरीतता है अर्थात् देव भोगादिकी सामग्री रखता है। यह देवक स्वरूपमें विपरीतता है। जिसको गुरुके स्वरूपमें विपरीतता है, अर्थात् गुरू परिग्रह धारी है। यहाँ गुरुके स्वरूपम विपरीतता है। जिसको धर्मके स्वरूपम विपरीतता है देवोका पशुका बलिदान देनेसे धर्म होता है, यज्ञमें पशु, नर, आदि की बलि देना धर्म है, पहाड़ से कूद कर मरना धर्म है, इत्यादि मान्यता धर्मम विपरीतता है। एसी मान्यतावाले जीवोंको अपात्र कहा जाता है। ऐसे अपात्र जीवोंम पात्र बुद्धि मानकर दान देने इसीके फलम कुभोगभूमि तथा कुदेवादिकोंका पद मिलता है परन्तु सुदेवोंका पद और परम्परा मोक्ष नहीं मिलता है यह फलम ... ।

यदि वहा ही लघुशका करनेम पाप लगता होगा, तो पहाड के सभी जानवर नियमसे मरकर नरकम ही जाते होंगे ? परन्तु ऐसी बात नहीं, लघुशका या दीर्घशका होना आत्मा के हाथकी बात नहीं, यह तो कर्म जन्य अवस्था है। आप इच्छा करो तो भी लघुशका या दीर्घशका न होवे। और इच्छा न हो और प्रकृति विपरीत हो तो एक घटेम ५० पचास टट्टी हो जावें। क्या यह सब क्रिया आत्मा के हाथकी है ? इस कर्मजन्य क्रियाको आत्माकी क्रिया मानना मिथ्यात्व है ? भाव सुधारना या बिगाड़ना यह आत्मा क हाथ की बात है। वही शिखरजी पर आप भाव बिगाडो तो नियम से पापका ही बन्ध पड़ेगा। और भाव सुधारने से पुण्य का बध पड़ेगा। शिखरजी क्या करें ? सारा ठाठ भाव पर है। शिखरजी की यात्रा वहाक डोलीवाले रोज करते हैं, तो क्या उन्हे पुण्य बध पड़ेगा ? इसी मूर्खतासे तो हमने शिखरजीका पहाड़ गुमाया ? प्रीवी काउन्सिल म शिखरजीका मामला चला था जिसक फैसलेम जज साहेबने लिखा है, कि जो मनुष्य शिखरजी पहाड पर लघुशका करनेमे पाप समझते हैं वे मनुष्य उस पहाड़की रचा कैसे कर सकते है ? इस न्याय से तो वह पहाड श्वेताबर भाइयाको दिया गया। शिखरजी पहाड़ पर रहना, एव पहाड़पर लघुशका, दीर्घशका जाना पाप

नहीं है पाप तो खराब भाव करनेसे ही लगेगा। इसलिये जो मिथ्या मान्यता रखी है कि शिखरजी पहाड पूज्य है यह मान्यता निकाल देनी चाहिये।

आकुलता का त्याग करना—गृहस्थाश्रम आकुलतामय है। व्यापारकी आकुलता महान् खदायक है। इसी आकुलता से धचनेक लक्ष्यसे यात्रा करनेका भाव होता है। घर छोडते हैं, ग्राम छोडते हैं, और जंगलोंमें, पहाडोंमें आते हैं, परन्तु आकुलता छोड़ने का लक्ष्य भूल जाते हैं। बड़े धनी लोग तीर्थक्षेत्रमें जायेंगे तो भी मुनीम आदिको आदेश देकर आते हैं कि रोज व्यापारका समाचार हमको पोस्ट, तार द्वारा मिलना चाहिये। जिसको छोडना था वह तो छूटी नहीं, मात्र क्षेत्र छूटा। इससे क्या लाभ? एक दिन पत्र और तार न आया तो आकुलताका पार नहीं, सारा दिन चिन्तामें ही जायगा कि क्यों तार, पत्र न आया?

पहाड़ चढ़नेमें भी आकुलता। जबसे पहाड चढ़ना शुरू किया तबसे आकुलता हुई झट चलो, जल्दी चलो, देरी हो जावेगी। लघुशंका की बाधा हो जावगी। यह सब क्या है? जो आकुलताको छोड़ना था वह तो साथ २ साथ चल रही है। शान्तिकी गन्ध आवे कहाँ से? लघु-शंकाकी बाधा न हो जावे, जिसकी इतनी चिन्ता है पूरा श्लोक भी न बोले, शान्तिसे अर्घ भी न चढ़ावे

इसकी एवजम तुरन्त चलो दरी होती है, यह नव क्या है? अपने लन्य को भूला हुआ जीव तीर्थ यात्रा म भी शातिका अनुभव नहा कर सकता है। लघुशकाकी बाधा होनेवाली होगी तो नियमसे होगी इसकी इतनी चिन्ताकरनेसे क्या लाभ। शान्ति से पाठ बोलो, अर्घ आदि चढाओ, एक घन्टा दरी हो जावे तो क्या हानि है। कौनसा व्यापार चला जाता है, परन्तु शान्ति रखने का भाव नहीं होता है। ऐसी यात्रा मे शान्ति कहा से मिलेगी? शान्ति चाहते हो तो आकुलता छोड़ने की चिन्ता रखो। मरम आकुलता न हो जाय। एक पूजा करो, परन्तु शान्तिसे करो। पीछे देखो की शान्ति आती है या नहीं? शान्ति का मार्ग छोड़ कर आकुलता का मार्ग लेना शान्ति का बाधक ही है। पहाड पर रात भर रहना पडे तो रहो परन्तु आकुलता मत करो। यही आकुलता छोड़नेका मार्ग है।

लोभका त्याग—दोसो, पाचसो रुपियो का लोभ छोड़े बिना यात्रा कैसे होगी? जितना लोभ छूटा उतना ही शान्ति का मार्ग है। लोभ छोडना ही धर्म है, यही शान्ति है। लोभ छोड़नेमे शान्ति मिलगी इस तरफ लन्य नहा रहता। अरे बहुत खर्च हो जाता है, बहुत खर्च हो जाता है, इसकी चिन्ता करत हैं। यह कहाँ का न्याय है यदि लोभ नहीं छूटना था तो यात्रा क्या करनेको निकले

जितना लोभ छूटा है उतनी ही यात्रा शान्तिसे करो, परन्तु विशेष खर्च होता है, इसकी चिन्ता छोडना शान्तिका मार्ग है। शक्ति हो तो सभी तीर्थ क्षेत्र की यात्रा करो, और शक्ति न होवे तो एक ही तीर्थक्षेत्र पर जाकर जितना लोभ छूटा है उतना ही शान्तिका अनुभव करो। चिन्ता में सुख नहीं, चिन्ता करने से धन मिल नहीं जावेगा। शुभ कार्य में निकलते हुए चिन्ता क्यों करते हो। जितनी शक्ति है उतना खर्च करो और जहां तक बने वहां तक शान्ति मिलने की चेष्टा करना चाहिये, यही तीर्थयात्रा का फल है। तीर्थयात्रा की, और शान्ति नहीं रही तो तीर्थयात्रासे क्या फल निकला? धनका खर्च करो और शान्ति नहीं मिली तो धन खर्चनेसे क्या लाभ। जो काम करो पर अपना लक्ष्य चूको नहीं, तो आपकी तीर्थयात्रा सुखरूप ही मालूम होगी, यदि लक्ष्य चूकजावोगे तो वही तीर्थयात्रा दुखरूप मालूम होगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कार्य करो उसमें अपना लक्ष्य नहीं चूकना यही उत्तम मार्ग है।

निर्माल्य वस्तु

अरहन्त आदिकी भक्ति अष्ट द्रव्यों से जो की जाती है, इसमें प्रधान लोभ छोड़ने का ही है। जितना द्रव्य आप पूजा में लगावोगे उतना ही आपका लोभ छूटा। लोभ के त्याग बिना द्रव्य कैसे लगावोगे? लोभ छो

हेतुसे ही खाली हाथ मदिरादि शुभ स्थानों में नहीं जाने का रिवाज रखा गया है। जिस वस्तु परसे आपने लोभ छोड दिया, वह वस्तु आपके लिये निर्माल्य हो गई। यदि उस वस्तु पर आपकी मालिकी रही अर्थात् वह वस्तु अपने स्वार्थ के काममें ली तो उस वस्तु परसे आपका लोभ कहा छूटा ? जिस पदार्थ पर से आपका लोभ छूट गया वही पदार्थ तो आपका वमन है। अर्थात् त्यागी हुई वस्तु है, ऐसी त्यागी की हुई वस्तु अर्थात् ऐसे वमन में से काम निकालने का अथवा स्वार्थ साधने का मार्ग तो वमन खाने बरोबर है अर्थात् निर्माल्य खाने बरोबर है। उस सामग्री को देकर माली (सेवक) से काम लेना यह कहा का न्याय है ? उस सामग्री परसे आपका लोभ हट जाने से अब आप उसके मालिक नहीं हो। वह सामग्री यथार्थ में बिना स्वार्थ से गरीब लोगों को बाट देना चाहिये अथवा मछलियां आदि को खिला देना चाहिये। यह मार्ग ग्रहण न कर उस सामग्री को माली (सेवक) को तनख्वाह (पगार) में देकर उसी के एवजमें मदिरादिक का काम लेना वहा आपका लोभ कहा छूटा ? माली-सेवक को चाकरी में रखते वक्त आप शर्त करते हो कि तनख्वाह (पगार) नहीं दिया जावेगा, परन्तु केवल मात्र पूजा में चढ़ी हुई सामग्री तुम्हारी महनतकी ऐवजी में (बदलमें) दिया जायगा। वह तो आपकी चीज नहीं है, क्योंकि

उसपरसे आपका लोभ छूट चुका है, अपना वमन दूसरेको खिलाना यह कहा का न्याय है ? माली–सेवक तो महनत कर वह द्रव्य खाता है, तो भी आप उसको निर्माल्य वस्तु का खाने वाला कह कर, उसी को हीन दृष्टि से देखते हो, उसी का अपमान करत हो, उसीक हाथका पानी छूनेम पाप समझते हो। उसीको जैन शास्त्र छूनेका अधिकार नहा इतना ही नहीं परन्तु शास्त्रकी गद्दीको भी छूनेका अधिकार नहीं। इत्यादि दोष लगाना यह कहा का न्याय है ? यथार्थ म माली-सेवक निर्माल्य वस्तु नहीं खाता है, वह तो अपना पसीना बहाकर खाता है, महनत कर खाता है। वह निर्माल्य का खानेवाला पापी है, कि आप निर्माल्य वस्तु को खिलाने वाले पापी हैं। जरा शान्त चित्त से सोचिये। जैसे एक सती स्त्री है, उसक ऊपर मिथ्या आरोप डाल कर, उसक सतीत्वपर बट्टा लगाने की चेष्टा म जितना दोष है, पाप है, इतना ही दोष पाप माली-सेवक निर्माल्य वस्तु खाता है, उसको छूने म पाप इत्यादि कहने म है। क्योंकि माली-सेवक निर्माल्य वस्तु खाता नहीं है, वह तो हक की खाता है, वह पापी नहीं है, परन्तु -निर्माल्य जान कर खिलाने की अनुमोदना करनेवाले आप ही पापी हो। जिसको आप हो उसे आप दूसरे को खिलाते हो को पूरी तनख्वाह,

और बाद म माली वह वस्तु खावे तो माली नियम से पापी है। तनख्वाह पगार दना नहीं और इसकी एवजी म जो वस्तु आपके लिये निर्माल्य है, जिसका आपने लोभ छोड़ दिया है वही वस्तु माली-सेवकको देकर काम लेना, और उपर से कहना कि माली-सेवक निर्माल्य खाने वाला है, यह तो बहुत ही अन्याय है। आपको पूजा करने म शान्ति कहाँ से मिलेगी? उत्तम तो यह है कि माली सेवक को पूरी तनख्वाह-पगार देकर मन्दिर म रखना चाहिये और निर्माल्य वस्तु गरीब लोगों को बिना स्वार्थ के बाँट दना चाहिये? इतना ही नहीं परन्तु माली-सेवकको भी जैन बनाना चाहिये? मालियोंको जैन बनाना तो दूर रहा परन्तु उन्हे जिनशास्त्रको एवं जिन शास्त्र की गद्दी को छूनेका अधिकार नहीं कहना तो नियम से अन्याय एव मिथ्यात्वका ही पोषण है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये गुरु भक्ति आदि अधिकार सपूर्ण हुआ।

द्रव्यकर्म का स्वरूप

प्रश्न—पौद्गलिक द्रव्य कर्म कितने प्रकार का है, तथा उसके उत्तर भेद क्या हैं?

उत्तर—पौद्गलिक द्रव्यकर्म आठ प्रकार का है। ज्ञानावरणी, २ दर्शनावरणी, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय,

५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

ज्ञानावरणीकर्म—ज्ञानावरणीकर्म ज्ञान के विकास को रोकता है। ज्ञानावरणी कर्मके उत्तर भेद पांच हैं। १ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्ययज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरणीकर्म—दर्शनज्ञानावरणीकर्म दर्शनचेतना का विकास नहीं होने देता है। इसकी पटा प्रकृति नौ हैं। १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन, ४ केवलदर्शन, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला, ९ स्त्यान गृद्धि। इसप्रकार चार तो दर्शनचेतना को रोकनेवाली हैं और पाँच प्रकार की निद्रा जो दर्शनचेतना प्रगट हुई है, उसे ही रोकनेवाली हैं।

शंका—पाच निद्रा नामकी प्रकृतियों को प्रथमकर्म ज्ञानावरणमें नहीं गिनकर दर्शनावरण कर्म में क्यों गिना जाता है?

समाधान—ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, इसी कारण जो दर्शन चेतनामें बाधा डालेगी वही ज्ञानमें भी बाधा डालेगी ही। इसी कारण उन प्रकृतियोंको दर्शनावरण कर्ममें गिना जाता है। यदि उन प्रकृतियोंको ज्ञानावरण कर्ममें शामिल किया जाता तो यह निद्रा नामकी प्रकृति [illegible]
ही [illegible] दर्शनचेतना को वह रोक

निद्राम न तो दर्शनचेतना काम करती हैं न ज्ञान चेतना काम करती है। दोना चेतनाएँ लब्धिरूप रहती हैं। इसी कारण निद्रा नामकी प्रकृतियाँ दर्शनावरण कर्मम ही गिनी जाती हैं। ये सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं।

वेदनीयकर्म—वेदनीय कर्मका फल बाह्य सामग्री का सयोग वियोग कराना और यदि मोह हो तो उस सामग्री म सुख दु खका वेदन कराना यही वेदनीय का कार्य है। वेदनीयकी पेटा प्रकृति दो हैं। १ साता वेदनीय, २ असाता वेदनीय।

शका—बाह्य सामग्री लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिलती है ऐसा किसी २ आचार्य का मत है, तब मात्र वेदनीय कर्म से बाह्य सामग्री मिलती है इस बात म विरोध आता है?

समाधान—अन्तराय कर्म घाती कर्म है। उसके सद्भाव म आत्मा की वीर्यशक्ति का नाश होता है, और अन्तराय कर्म के अभाव म वीर्यशक्ति प्राप्त होती है, यह अन्तराय का फल है। अन्तरायकर्म के क्षयोपशमसे बाह्य सामग्री मिलती है यह मान्यता गलत है। अन्तरायकर्म पाप प्रकृति है, और पाप प्रकृति से बाह्य सामग्रीका मिलना मानना भी भूल है। इसलिये यही श्रद्धा रखनी कि बाह्य सामग्रीका सयोग वियोग होना वेदनीय कर्म का फल है।

बाह्य सामग्री कर्म के उदय से [illegible]
के क्षयोपशमम नहीं मिलते हैं।

मोहनीयकर्म — [illegible]
मोहनीय २ चारित्र [illegible]
तत्त्वार्थके सत्य श्रद्धान [illegible]
मोहनीय का वीतराग [illegible]

दर्शनमोहनीय के [illegible]
२ सम्यक्मिथ्यात्व, ३ [illegible]

चारित्र मोहनीय के [illegible]
२ नोकषायवेदनीय।

कषाय वेदनीय के [illegible]
अप्रत्याख्यान ४, प्रत्याख्यान [illegible]
माया लोभ इस तरह १६ [illegible]
कषायवेदनीयकी नौ प्रकृति हैं [illegible]
३ अरति ४ शोक ५ भय [illegible]
९ नपुंसक वेद। इन्हें नोकषाय [illegible]

तीव्र और मंद कषाय [illegible] अनन्तानुबंधी
आदि प्रकृति का भेद नहीं है [illegible]
अपेक्षा से भेद हैं। अनन्तानुबंधी [illegible]
चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती है। अप्रत्याख्यान [illegible]
उदय में देश संयम भी लेने का [illegible] नहीं होता
प्रत्याख्यानकषाय [illegible] संयम लेनेका

होता। सञ्वलन कषायके उदयमें संपूर्ण वीतराग भावकी प्राप्ति नहीं होती है।

स्त्री पुरुष और दोनों के साथ रमण करने का भाव का नाम भाव वेद है और मोहनीयकर्म की पौद्गलिक कर्म प्रकृतिका नाम द्रव्य वेद है, परन्तु शरीर रूपी ढाँचे को द्रव्य वेद मानना भूल है। क्योंकि वह तो अंगोपांग नामा नामकर्मका फल है।

आयुकर्म—आयुकर्मका फल चतुर्गतियोंमें रोक रखना है। उसकी उत्तर प्रकृति चार हैं। १ देवायु २ मनुष्यायु ३ तिर्यगायु ४ नरकायु।

नामकर्म—नामकर्मका फल नरकादि नाम करावे। नामकर्मके उत्तर भेद ८२ हैं।

१. गति ४—तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति, मनुष्यगति।

२. जाति ५—एकेन्द्रियजाति, दोइन्द्रियजाति, तेइन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, पचेन्द्रियजाति।

३ शरीर ५—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर।

४ अंगोपांग ३—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक अंगोपांग।

शंका—अंगोपांग किसको कहते हैं?

समाधान—अंगोपांग निम्न प्रकार है कहा है कि,

णलया वाहूय तहा णियव पुट्ठी उरो य सीस च ।
अट्ठेव दु अगाई देहएणाई उवगाइ ॥ १० ॥

अर्थ—शरीरमें दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (कमरके पीछे का भाग), पीठ, हृदय और मस्तक ये आठ अग होते हैं। इनके सिवाय मन्य (नाक, कान–मारा) उपाग हैं। (ध ६–५४)

५ निर्माण २–नेत्रादि १ यथास्थान, २ यथाप्रमाण बनानेवाला कर्म।

शका—निर्माण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—नियत मानको निर्माण कहते हैं। वह दो प्रकारका है—

१ प्रमाण निर्माण और २ संस्थान निर्माण।

जिस कर्मके उदय से जीवों के दोनों ही प्रकार के निर्माण होते हैं उस कर्मकी निर्माण सज्ञा है। यदि प्रमाण निर्माण नामकर्म न हो, तो जघा–बाहु शिर नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोकके अन्ततक फैलनेवाला हो जावेगा। किन्तु एसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकार से पाया नहीं जाता। इसलिये कालको और जातिको आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला
नाम कर्म है। यदि सस्थान निर्माण नाम कर्म
अग, उपाग शकर और

जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि, ऐसा पाया नहीं जाता। इसलिये कान, आख, नाक आदि अगोंका अपनी जाति के अनुरूप अपने अपने स्थानपर जो नियामक कर्म है वह सस्थान नाम कर्म कहलाता है। (ध. ६-६६)

६ बधन ५–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण बधन।

७ सघात ५–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण सघात।

८ सस्थान ६–समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमडल, स्वातिक, कुब्जक, वामन, हुडक-सस्थान।

९ सहनन ६–वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असप्राप्तासृपाटिका सहनन।

१० स्पर्श ८–कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण।

११ रस ५–तिक्त, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषायला।

१२ गध २–सुगध, दुर्गंध।

१३ वर्ण ५–काला, नीला, लाल, पीला, स्वेत।

१४ आनुपूर्वी ४–नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी।

शका—सस्थान नाम कर्म से आकार विशेष उत्पन्न होता है, इसलिये आनुपूर्वी की परिकल्पना निरर्थक है।

समाधान—नहीं, क्योंकि शरीर ग्रहण करनेसे प्रथम समय से ऊपर उदय म आने वाले उस संस्थान नाम कर्म का विग्रहगति के कालम उदयका अभाव पाया जाता है। (ध ६ ५६)

शका—पूर्व शरीरको छोडकर दूसरे शरीरको नहीं ग्रहण करके स्थित जीवका इच्छित गति म गमन किस कर्मसे होता है ?

समाधान—आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गति में गमन होता है।

शङ्का—विहायोगति नामकर्मसे इच्छित गति मे क्यों गमन नहीं होता ?

समाधान—नहा, क्योंकि विहायोगति नामकर्म का औदारिकादि तीनों शरीरोंके उदय के विना उदय नहीं होता है।

शका—आकार विशेषको बनाये रखने म व्यापार करने वाली आनुपूर्वी इच्छित गति म गमन का कारण कैसे होती है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, आनुपूर्वीका दोनों ही कार्यों के व्यापार म विरोधका अभाव है। अर्थात् विग्रह गति म आकार विशेषको बनाये रखना और इच्छित गति

में गमन करना ये दोनों ही आनुपूर्वी नाम कर्म के कार्य हैं। (ध ६ ६०)

१५ अगुरुलघु—जिसके उदय से शरीर हलका भारी न हो।

१६. उपघात—जिसके उदयसे स्वय का घात हो।

१७ परघात—जिसके उदय से जीवका घात दूसरे के द्वारा हो।

१८ आताप—उष्णता सहित प्रकाशको आताप कहते हैं।

शका—इस प्रकार आताप शब्दका अर्थ करने से तैजसकायिक जीवम भी आताप कर्मका उदय प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तैजसकायिक नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई उस अग्निकी उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होनेसे उसका आतापके साथ समानताका अभाव है। (ध ६ ६०)

१६ उद्योत—जिस कर्मके उदय से जीवके शरीर में उद्योत अर्थात् चमत्कार उत्पन्न होता है वह उद्योत नाम कर्म है। यदि उद्योत नामकर्म न हो तो चन्द्र, नक्षत्र, तारा, और जुगनू नामके कीडा आदिके शरीरों में उद्योत (प्रकाश) न होवेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता है। (ध ६ ६०)

२० उच्छ्वास—जिसके उदयसे उच्छ्वास आवे।

२१ विहायोगति—जिसके उदय से आकाश में उड सके।

२२ प्रत्येक–जिसके उदयसे एक जीवके भोगने योग्य शरीर हो।

२३. साधारण—जिसके उदय से अनेक जीवोंके भोगनेयोग्य शरीर हो।

२४ त्रस—जिसके उदयसे दोइन्द्रियादि शरीर प्राप्त हो।

२५ स्थावर–जिसके उदय से एकेन्द्रिय शरीर मिले।

२६ सुभग—स्त्री और पुरुषों के सौभाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

२७ दुर्भग—स्त्री और पुरुषो के दुर्भाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

शका—अव्यक्त चेष्टा वाले एकेन्द्रिय जीवों आदिमें सुभग भाव और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय आदि में अव्यक्त रूप से विद्यमान उन भावों का अस्तित्व आगमसे सिद्ध है। (ध. ६–६५)

२८–२९ सुस्वर, दुस्वर ३०–३१ शुभ, अशुभ जिस कर्मके उदयसे अंगोपांग नाम कर्मोदय जनित अंगों और

मे गमन करना ये दोनों ही आनुपूर्वी नाम कर्म के कार्य हैं। (ध. ६ ६०)

१५. अगुरुलघु—जिसके उदय से शरीर हलका भारी न हो।

१६ उपघात—जिसके उदयसे स्वय का घात हो।

१७ परघात—जिसके उदय से जीवका घात दूसरे के द्वारा हो।

१८ आताप—उष्णता सहित प्रकाशको आताप कहते हैं।

शका—इस प्रकार आताप शब्दका अर्थ करने से तैजसकायिक जीवम भी आताप कर्मका उदय प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तैजसकायिक नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई उस अग्निकी उष्ण प्रभा म सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होनेसे उसका आतापके साथ समानताका अभाव है। (ध ६ ६०)

१९ उद्योत—जिस कर्मके उदय से जीवके शरीर मे उद्योत अर्थात चमत्कार उत्पन्न होता है वह उद्योत नाम कर्म है। यदि उद्योत नामकर्म न हो तो चन्द्र, नक्षत्र, तारा, और जुगनू नामके कीडा आदिके शरीरो मे उद्योत (प्रकाश) न होवगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता है। (ध ६ ६०)

२० उच्छ्वास—जिसके उदयसे उच्छ्वास आवे।

२१ विहायोगति—जिसके उदय से आकाश में उड़ सके।

२२ प्रत्येक—जिसके उदयसे एक जीवके भोगने योग्य शरीर हो।

२३ साधारण—जिसके उदय से अनेक जीवोंके भोगनेयोग्य शरीर हो।

२४ त्रस—जिसके उदयसे दोइन्द्रियादि शरीर प्राप्त हो।

२५. स्थावर—जिसके उदय से एकेन्द्रिय शरीर मिले।

२६ सुभग—स्त्री और पुरुषों के सौभाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

२७ दुर्भग—स्त्री और पुरुषों के दुर्भाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

शंका—अव्यक्त चेष्टा वाले एकेन्द्रिय जीवों आदिमें सुभग भाव और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय आदि में अव्यक्त रूप से विद्यमान उन भावों का अस्तित्व आगमसे सिद्ध है। (ध. ६-६५)

२८-२९ सुस्वर, दुस्वर ३०-३१ शुभ, अशुभ जिन कर्मके उदयसे अंगोपांग नाम कर्मोदय जनित अंगों और

उपागोंके शुभपना (रमणीयत्व) होता है, वह शुभ नाम कर्म है। और अग और उपाग के अशुभताका उत्पन्न करने वाला अशुभ नाम कर्म है। (ध ६-६४)

३२ सूक्ष्म, ३३ बादर, ३४ पर्याप्त, ३५ अपर्याप्त, ३६-३७ स्थिर, अस्थिर जिस कर्म के उदयसे रस रुधिर मेदा मज्जा अस्थि, मास और शुक्र इन सात धातुओंकी स्थिरता अर्थात् अविनाश व अगलन हो वह स्थिर नाम कर्म है। यदि स्थिर नामकर्म न हो तो इन धातुओं का स्थिरताके अभाव से गलनाही होगा किंतु ऐसा है नहीं। क्योंकि हानि और वृद्धि के बिना इन धातुओंका अवस्थान देखा जाता है। जिस कर्म क उदय से रस, रुधिर, मास, मेदा, मज्जा और शुक्र इन धातुओंका परिणमन होता है, वह अस्थिर नाम कर्म है कहा भी है (ध ६-६३)

रसाद्रक्त ततो मास मासानमद प्रवर्तते।
मद सोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञ शुक्र तत प्रजा ॥

अर्थ--रससे रक्त बनता है, रक्त से मास उत्पन्न होता है, माससे मेदा पैदा होता है, मेदा से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा पैदा होती है, मज्जासे शुक्र उत्पन्न होता और शुक्र से प्रजा (सतान) उत्पन्न होती है।

३८-३९ आदेय, अनादेय जिस कर्म के उदयसे बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय नाम कर्म

है, और उससे अर्थात् नहुमान्यता से विपरीतता (अना-दरणीयत्ता) जो उत्पन्न करनेवाला अनादेय नाम कर्म है। (ध ६–६५)

४०–४१ यश कीति, अयश कीति ४२ तीर्थंकरत्व।

गोत्रकर्म—जो फलम उँच नीच सज्ञा दिलावे। गोत्र कर्मकी उत्तर प्रकृति दो हैं। १ उच्चगोत्र २ नीचगोत्र।

उच्चगोत्रम नियमसे मनुष्य तथा देवगति मिलती है। और नीच गोत्रम नियमसे तिर्यंच तथा नरक गति मिलती है। मनुष्योंम नीचगोत्र व्यवहारसे कहा जाता है। यह तो कार्यकी अपेक्षासे भेद पडता है। कार्य छोड़ देनेसे नीच गोत्री उचगोत्री हो जाता है, एव उचगोत्री नीचगोत्री हो जाता है, यह तो परिवर्त्तनशील गोत्र है।

अन्तराय कर्म—वीर्य शक्ति को रोके उसीका नाम अन्तराय कर्म है। अन्तरायकर्मकी पाच उत्तर प्रकृतियाँ हैं। १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उप भोगान्तराय ६ वीर्यान्तराय।

दानान्तराय–दान देनेमे वीर्य शक्ति का अभाव।

लाभान्तराय–व्यापार (व्यवसाय) करनेम वीर्य शक्ति का अभाव।

भोगान्तराय–भोग करने म वीर्य शक्तिका

उपभोगान्तराय– बढ़िया कपड़ा–गहना

भोग करने म वीर्य शक्ति का अभाव।

वीर्यान्तराय–त्याग ग्रहण करने म वीर्य शक्ति का अभाव।

शङ्का–उदय और उदीरणा म क्या भेद है ?

समाधान–जो कर्म स्कन्ध, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोगो क बिना, स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना अपना फल देत हैं उन कर्म स्कधो की "उदय" यह सज्ञा है। जो महान स्थिति और अनुभागो म अवस्थित कर्म स्कध अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जात हैं, उन कम स्कधोकी "उदीरणा" यह सज्ञा है, क्योकि अपक्व कर्म स्कधके पाचन करने को उदीरणा कहा गया है। (ध ६–२१३)

शङ्का—उपशम, निधत्त, और निकाचितम क्या अतर है ?

समाधान—जो कर्म उदयम न दिया जा सके वह उपशम, जो सक्रमण और उदय दोनो म ही न दिया जा सके वह निधत्त, और जो उतकर्षण, सक्रमण, उदय, तथा अपकर्षण इन चाराम ही न दिया जा सके वह निकाचित करण है। कहा भी है कि–(ध ६–२६५)

उदए सकम उदय चदुसु विदादु कमेण णो सक्क।
॰ च निधत्त णिकाचिद चारि ज कम्म ॥१=॥

शङ्का—घाती और देशघाती किसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म दो प्रकार के हैं, घातिया कर्म और अघातिया कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं, तथा वेदनी, नाम, गोत्र, आयु ये चार अघातिया कर्म हैं।

शङ्का—ज्ञानावर्ण आदिको घातिया कर्म क्यों नाम दिया ?

समाधान—क्योंकि केवलज्ञान, केवल दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य अर्थात् आत्मा की शक्तिरूप जो अनेक भेदों से भिन्न जीव गुण हैं उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं, और इसलिये यह घातिया कर्म कहलाते हैं। (ध ७–६२)

शङ्का—जीवके सुखको नष्ट करके दुख उत्पन्न करने वाला असातावेदनीय कर्मको घातिया कर्म नाम क्यों नहीं दिया ?

समाधान—नहीं दिया ! क्योंकि वह घातिया कर्मका सहायक मात्र ही है, और घातिया कर्मों के बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ तथा उसमे प्रवृत्ति रहित है, इसी बातको बतलानेके लिये असातावेदनीयको घातिया कर्म नहीं कहा। (ध ७–६३)

प्रश्न—पहिले किन कर्म प्रकृतियोंका उदय विच्छेद

भोग करने म वीर्य शक्ति का अभाव।

वीर्यान्तराय–त्याग ग्रहण करने म वीर्य शक्ति का अभाव।

शङ्का–उदय और उदीरणा म क्या भेद है?

समाधान–जो कर्म स्कध, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोगा के बिना, स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना अपना फल देत हैं उन कर्म स्कधो की "उदय" यह सज्ञा है। जो महान स्थिति और अनुभागा म अवस्थित कर्म स्कध अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जात हैं, उन कर्म स्कधोकी "उदीरणा" यह सज्ञा है, क्योंकि अपक्व कर्म स्कधके पाचन करने को उदीरणा कहा गया है। (ध ६–२१३)

शङ्का—उपशम, निधत्त, और निकाचितम क्या अतर है?

समाधान—जो कर्म उदयम न दिया जा सके वह उपशम, जो सक्रमण और उदय दोनो म ही न दिया जा सके वह निधत्त, और जो उत्कर्षण, सक्रमण, उदय, तथा अपकर्षण इन चारोम ही न दिया जा सके वह निकाचित करण है। कहा भी है कि–(ध ६–२६५)

उदए सकम उदय चदुसु विदादु कमेण णो सक्क।
उवसत च निधत्त णिकाचिद चारि ज कम्म ॥१८॥

शङ्का—घाती और देशघाती किसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म दो प्रकार के हैं, घातिया कर्म और अघातिया कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं, तथा वेदनी, नाम, गोत्र, आयु ये चार अघातिया कर्म हैं।

शङ्का—ज्ञानावर्ण आदिको घातिया कर्म क्यों नाम दिया?

समाधान— क्योंकि केवलज्ञान, केवल दर्शन, सम्य क्त्व, चारित्र और वीर्य अर्थात् आत्मा की शक्तिरूप जो अनेक भेदों से भिन्न जीव गुण हैं उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं, और इसलिये यह घातिया कर्म कहलाते हैं। (ध ७–६२)

शङ्का–जीवके सुखको नष्ट करके दुख उत्पन्न करने वाला असातावेदनीय कर्मको घातिया कर्म नाम क्यों नहीं दिया ?

समाधान–नहीं दिया ! क्योंकि वह घातिया कर्मका सहायक मात्र ही है, और घातिया कर्मों के बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है, इसी बातको बतलानेके लिये असातावेदनीयको घातिया कर्म नहीं कहा। (ध. ७–६३)

प्रश्न–पहिले किन कर्म प्रकृतियोंका

होता है बादमें बंध विच्छेद होता है ?

उत्तर—देवायु, देवचतुष्क, अर्थात् देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, देवगत्यानुपूर्वी, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और अयश कीर्ति इन आठ प्रकृतियोंका उदय विच्छेद होता है, पश्चात् बंध का विच्छेद होता है। कहाभी है कि (ध ८-११)

दवाउ देवचउकाहारदुयं च अजसमदट्ठण्हं।
पठमं मुदयो णिस्सदि पच्छा बंधो मुणेयव्वो ॥

प्रश्न—बंध उदय दोनो ही साथ विच्छेद होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ कौनसी है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, चार अनन्तानुबंधी, चार अप्रत्याख्यानावरणीय, चार प्रत्याख्यानावरणीय, तीन सज्वलन, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, मनुष्यगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति और साधारण इन इकत्तीस प्रकृतियोंका बंध व उदय दोनों ही साथ व्युछिन्न होते हैं। (ध ८-१२)

प्रश्न—पहले बंध बादमें उदय विच्छेद होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ कौनसी है ?

उत्तर—पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, सज्वलन लोभ, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक,

नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु, नरकगति, तिर्यंचगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर छह सस्थान, औदारिक अंगोपाग, छह सहनन, वर्णादिचार नारकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघुकादि चार, उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय अनादेय, यश कीर्ति, निर्माण तीर्थंकर, नीचगोत्र, उच्चगोत्र और पाच अतराय इन ८१ प्रकृतियोंका पहिले बध नष्ट होता है बादमे उदय नष्ट होता है (ध ८–१२)

प्रश्न—परोदयसे बधनेवाली प्रकृतियोंका क्या नाम है?

उत्तर—तीर्थंकर, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अङ्गोपाग, नरकगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, आहारकशरीर, आहारक अगोपाग इन ग्यारह प्रकृतियोंका बध परोदयसे होता है। (ध ८–१४)

प्रश्न—स्वोदयसे बध होनेवाली कौनसी कर्म प्रकृतियाँ हैं?

उत्तर—पाच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, तैजस और कार्माणशरीर, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ निर्माण, पाच अतराय ये २७ प्रकृतिया स्वोदयसे बधती हैं। (ध. ८–१४)

प्रश्न—स्वोदय परोदयसे बधनेवाली कौनसी

प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर–पाँच दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, तिर्यगायु मनुष्यायु, तिर्यग्गति मनुष्यगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पचेंद्रियजाति, औदारिक शरीर, छह संस्थान, औदारिक शरीर आंगोपांग, छह संहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्या नुपूर्वी, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक साधारण, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, नीचगोत्र, उच्चगोत्र, ये ८२ प्रकृतियाँ स्वोदय परोदय दोनों प्रकारसे बंधती हैं।

[ध ८–१५]

प्रश्न–ध्रुव तथा निरन्तर बंध कौनसी कर्म प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर–पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पांच अन्तराय ये सैंतालीस ध्रुव प्रकृतियाँ हैं। ये सैंतालीस ध्रुवप्रकृतियाँ तथा तीर्थंकर, आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग और चार आयु यह मिलकर, ५४ (चौवन) प्रकृतियाँ निरंतर बंधती हैं।

शका–निरतर बध और ध्रुव बध म क्या भेद है ?

समाधान–जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी
म अनादि एव ध्रुव भावसे पाया जाता है, वह ध्रुव बध
ति है। और जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियम से सादी एव
व तथा अन्तर्मुहूर्त्त कालतक अवस्थित रहनेवाला है
निरतर बध प्रकृति है। (ध ८–१६)

प्रश्न–सातर बध प्रकृतियॉ कौनसी है ?

उत्तर–जिन जिन प्रकृतियोका काल चयम बध
छेद सभव है वह सातर बध प्रकृति है। असाता वेद-
य–स्त्रीवद, नपु सकवद, अरति,शोक, नरकगति, चार
ति, अधस्तन, पाच सस्थान, पॉच सहनन, नरकगतिप्रायो-
ानुपूर्वी, आतप–उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर,
्म, अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुभ-दुर्भग, दुस्वर,
नादेय और अयश कीति यह चौंतीस प्रकृतियॉ
तर हैं। (ध ८–१७)

प्रश्न–सातर निरतर बध प्रकृतियॉ कौनसी हैं ?

उत्तर–सातावेदनीय, पुरुपवद, हास्य,रति, तिर्यंचगति,
नुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर,
क्रियिकशरीर, समचतुरस्रसस्थान औदारिक शरीर अगो-
ाग, वैक्रियकशरीर अगोपाग वज्रवृषभनाराचसहनन,
र्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी,

उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ–सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीति, उच्चगोत्र, नीचगोत्र ये बत्तीस प्रकृतियाँ सांतर निरंतर रूपसे बंधनेवाली हैं। (ध. ८–१८)

प्रश्न—मिथ्यात्व के उदयसे कौन कौनसी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर—मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्व, नपुंसकवेद नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियजाति, हुंडक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकसंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व उदय के अन्वय और व्यतिरकके साथ इन सोलह प्रकृतियोंके बन्धका अन्वय व्यतिरक पाया जाता है। (ध ७–१०)

प्रश्न—अनन्तानुबंधीकषायके उदय में कौनसी प्रकृतियोंका बंध होता है ?

उत्तर—अनन्तानुबंधी कषाय के उदयमें निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यगायु, तिर्यंचगति, तिर्यग्प्रायोग्यानुपूर्वी, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, और वामन संस्थान, वज्रनाराच, नाराच अर्धनाराच, और कीलक

शरीर संहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन पच्चीस प्रकृतियोंके बंधका अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उदय कारण है, क्योंकि, उसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है। (ध. ७-११)

प्रश्न—अप्रत्याख्यानावरणका उदयके कारणसे कौन सी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर—अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभसंहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियोंके बन्धका अप्रत्याख्यानावरण चतुष्कका उदय कारण है। क्योंकि उसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है। (ध ७-११)

प्रश्न—प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे कौनसी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर—प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयमें, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध,मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण इन्हीं का उदय है। क्योंकि अपने उदयके बिना इनका बन्ध नहीं पाया जाता। (ध ७-११)

प्रश्न—प्रमादसे कौनसी प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है ?

उत्तर - असाता वेदनीय अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, और अयश कीति इन छह प्रकृतियों के बन्धका कारण प्रमाद है। क्योंकि प्रमादके बिना इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं पाया जाता है।

शका—प्रमाद किसे कहते हैं ?

समाधान—चार सज्वलन कषाय और नौ नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदयका नाम प्रमाद है।

शका—पूर्वोक्त चार बन्ध के कारणों म प्रमाद का अन्तर्भाव कहां होता है ?

समाधान—कषायों में प्रमाद का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि कषायों से पृथक् प्रमाद पाया नहीं जाता है। (ध ७-११)

प्रश्न—सज्वलन कषाय के उदयम कौनसी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

समाधान—देवायु के बन्धका भी कषाय कारण है, क्योंकि प्रमाद के हेतुभूत कषाय के उदयके अभाव से अप्रमत्त होकर मन्द कषाय के उदयरूप से परिणत हुए जीव के देवायु के बन्ध का विनाश पाया जाता है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों के बन्ध का कारण कषायोदय है, क्योंकि अपूर्वकरण के काल के प्रथम सप्तम भाग म सज्वलन कषाय के उस काल के योग्य तीव्रोदय होने

पर इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है। देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण शरीर, समचतुरस्रसस्थान, वैक्रियिक शरीरागोपाग, आहारक शरीर अगोपाग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ सुभग, सुस्वर आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन तीस प्रकृतियों के भी बन्धका कषायोदय ही कारण है, क्योंकि अपूर्वकरण कालके सात भागों म से प्रथम छह भागो के अन्तिम समय मे मन्दतर कषायोदय के साथ इनका बन्ध पाया जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार के बन्धका अध प्रवृत्त और अपूर्वकरण सम्बन्धी कषायोदय कारण है, क्योकि उन्हीं दोनो परिणामोंके काल सबधी कषायोदय में ही इन प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है। चार सज्वलनकषाय और पुरुष वेद इन पाच प्रकृतियों के बन्धका बादर कषाय कारण है, क्योंकि, सूक्ष्मकषाय गुण स्थान म इनका बन्ध नहीं पाया जाता है। पाच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनवरणीय, यश कीर्ति उच्चगोत्र, और पाच अतराय इन सोलह प्रकृतियों का सामान्य कषायोदय कारण है, क्योंकि कषायों के अभाव में इन प्रकृति बन्ध [illegible] जाता है। साता वेदनीय के

ही कारण है, क्योकि मिथ्यात्व असयम और कषाय इन का अभाव होने पर भी एक मात्र योग के साथ ही इस प्रकृतिका बन्ध पाया जाता है और योगके अभाव म इस प्रकृतिका बन्ध नहा पाया जाता है। (ध ७-१२)

शका—आत्मा म बन्ध समय समय म पडता है। छद्मस्थ जीवेका ज्ञानोपयोग असख्यात समय म होता है, तब हमने जो बुद्धि पूर्वक कषाय किया उसम तो असख्यात समय चला गया, तब उस बुद्धि पूर्वक की हुइ कषाय का बन्ध कोन समय म पडेगा ?

समाधान—बुद्धिपूर्वक किये गये अपराधका बन्ध समय म नहा पडता है, परन्तु समय समयम जो अबुद्धिपूर्वक बन्ध पडता है, उस बन्ध म बुद्धिपूर्वक रागके कारण से अपकर्षण, उत्कर्षण, और सक्रमण होता रहता है। और यही ससार की जड़ है। जिसको शास्त्रीय भाषाम भाव उदीरणा कहते है। भाव उदीरणा से बचने म ही पुरुषार्थ करना पडता है और इस पुरुषार्थ के अभाव म अनत काल निकाला। उदयके साथ पुरुषार्थका तो दो घडी मात्रका काल है। उदयको जीतना कठिन नहीं है, परन्तु बुद्धिपूर्वक अपराध से (उदीरणासे) बचना बड़ी कठिन है।

शंका—चक्षु द्वारा जब मैं प्रतिमाजीका दर्शन करता हूँ

उस समय दर्शन करने म मुझको कोई बाधा नहीं है। उसी समय मे मतिज्ञानावरण कर्मका भी उदय है, तब उस उदयने मुझको क्या फल दिया ? क्योंकि कर्म का [illegible] नियमसे बाधा डालता है, और मुझको देखने म बाधा नहीं है ? तो कर्म ने क्या फल दिया ?

समाधान—जितने अश म कर्मोंका [illegible] उतने अंश मे सपूर्णआत्मा म देखने की [illegible] है। तो भी आत्मा सपूर्ण प्रदेशोंसे नहीं देख [illegible] इसका यह कारण है कि वर्तमान कर्मके [illegible] से देखनेको रोक दिया और मात्र चक्षु [illegible] दिया यही कर्म क उदयका फल है। [illegible] नहीं होता तो आप सपूर्ण प्रदेशोंसे [illegible]

शका—निकाचित और [illegible] है अर्थात् कौनसे बन्ध का नाम [illegible] बन्ध है ?

समाधान—जिस समय [illegible] पडता है, उसी समय म जो [illegible] है, उस गति और गोत्रका [illegible] बन्ध है। जो गति और [illegible] म और उसी गोत्रम आत्म [illegible] इसको [illegible] आत्मा [illegible]

नाम निकाचित है।

इति भेद ज्ञान शास्त्र मध्ये द्रव्य कर्म अधिकार सपूर्ण हुआ।

पर्याप्ति प्राण अधिकार

प्रश्न—पर्याप्ति किसको कहते हैं और वह कितनी होती हैं?

उत्तर—पर्याप्ति छह होती हैं। १ आहार पर्याप्ति २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ आनापान (उच्छ्वास) पर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति, ६ मन पर्याप्ति।

जीव में आहार, शरीर, इन्द्रियां, आनापान, भाषा, मन रूप शक्तियों की पूर्णता क कारणको पर्याप्ति कहते हैं, और अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं।

एकेन्द्रियके चार पर्याप्ति होती है। दोइन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पंचेन्द्रियके पाच पर्याप्ति होती है। और सज्ञी पचेन्द्रियकी छह पर्याप्ति होती हैं।

प्राण का स्वरूप—

प्रश्न—प्राण कितने होते हैं?

उत्तर—प्राण चार प्रकारका है। १ बलप्राण, २ इन्द्रिय-प्राण, ३ आयुप्राण, ४ स्वासोच्छ्वासप्राण। बलप्राण तीन प्रकारका होता है—१ कायबल, २ वचनबल, ३ मन बल। इन्द्रिया पाच प्रकारकी होती है—१ स्पर्शन्द्रिय, २ रसेंद्रिय,

३ घ्राणेन्द्रिय, ४ चक्षुरिन्द्रिय, ५ श्रोत्रेंद्रिय। इसप्रकार भेद अपेक्षासे प्राण १० दश प्रकार होता है।

इन्द्रिय, बल, आयु और स्वासोच्छ्वासप्राण इन चारोंही प्राणोंमें जो चैतन्यरूप परिणति है वह तो जीवकी ही अवस्था है, जिसको भावप्राण कहते हैं, और इनकी ही जो पुद्‌गलस्वरूप परिणति है वह पुद्‌गलकी ही अवस्था है उसे द्रव्यप्राण कहते हैं। समवाय सबंधसे आत्मा चैतन्य प्राणसे ही जीता है, और सयोगसबधसे ससारी जीव इन्हीं दशों प्राणों से जीता है। ये दोनो जाति के प्राण ससारी जीवके सदा अखडित सतान कर प्रवर्तते हैं, इनही प्राणोंकर ससारमें जीना कहलाता है, और मोक्षावस्था में केवल शुद्ध चैतन्यादि गुणरूप भाव प्राणों से जीता है।

सयोगसम्बन्धसे एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं। १ कायप्राण, २ स्पर्शनइन्द्रियप्राण, ३ आयुप्राण, ४ स्वासोच्छ्वासप्राण। दोन्द्रियजीव के छह प्राण होते हैं। १ रसनेन्द्रियप्राण तथा २ वचनप्राण ये दो प्राण विशेष हैं। त्रीन्द्रियजीवके सात प्राण होते हैं। घ्राणेन्द्रियप्राण विशेष है। चतुरिन्द्रिय जीव के आठ प्राण हैं। चक्षुरिन्द्रियप्राण विशेष है। असज्ञी पंचेन्द्रिय जीवके नौ प्राण हैं। १ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण विशेष है। सज्ञी पचेन्द्रिय

दश प्राणके धारी जीवकी घात की, इससे तुम महापापी हो।

प्रश्न—पर्याप्ति पूर्ण होने से बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् पर्याप्ति पूर्ण होनेसे तुरन्त आत्मा अपना ज्ञानोपयोग कर सकता है ?

उत्तर—इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होजाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिय नहा पाई जाती है (ध १—२५४)

इति भेदज्ञान शास्त्र मध्ये प्राण अधिकार सपूर्ण हुआ।

गुणस्थान अधिकार

प्रश्न—गुणस्थान किसको कहते हैं ?

उत्तर—आत्माका गुणों के अंश अंश में विशुद्ध होना सो गुणस्थान है। अथवा जिन कारणों से आत्मा अनादिकालसे बन्धन म रहा है उन कारणों की अथवा द्रव्य पौद्गलिक कर्मोंका अभाव होना उसीका नाम गुणस्थान है। गुणस्थान चौदह हैं। इनम एक से चार गुणस्थान आत्मा क श्रद्धा नामक गुणकी अवस्था से होते हैं। पाच से दश गुणस्थान आत्माके चारित्र नामक गुणकी विकारी अवस्थासे होते हैं। ग्यारह बारह और तेरहवा गुणस्थान आत्माके योग नामक गुणकी विकारी अवस्थासे होता है। चौदवा गुणस्थान क्रियावती शक्ति क विकार से है। गुण

स्थानों के नाम इस प्रकार हैं । १ मिथ्यात्व गुणस्थान, २ सासादनगुणस्थान, ३ मिश्रगुणस्थान, ४ अव्रत सम्यग्दृष्टि, ५ सयतासयत, ६ प्रमत्तसयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण गुणस्थान, ९ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, १० सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान, ११ उपशान्तमोह गुणस्थान, १२ क्षीणमोह गुणस्थान, १३ सयोगकेवली गुणस्थान, १४ अयोगकेवली गुणस्थान ।

मिथ्यात्व गुणस्थान—

यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व सेवन कर रहा है। इसके सेवन करने म निम्नलिखित प्रधान भेद है।

एकान्तमिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व और सशयक मिथ्यात्वके भेदसे मिथ्यात्व पाच प्रकार का है। (ध ८–२०)

प्रश्न—एकान्त मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—एकान्त मिथ्यात्वमें सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, नित्य ही है, अनित्यही है, इत्यादिक एकान्त अभिनिवेश को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं ।

प्रश्न—अज्ञान मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व मे नित्यानित्य विकल्पोंसे विचार करने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं,

एव सब अज्ञान ही हैं, ज्ञान नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको अनान मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न–विपरीत मिथ्यात्व किसको कहते हैं?

उत्तर–विपरीत मिथ्यात्व म हिंसा, अलीकवचन चौर्य मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान इनसे ही मुक्ति होती है ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।

प्रश्न—वैनयिक मिथ्यात्व किसको कहते हैं?

उत्तर—वैनयिक मिथ्यात्व म लौकिक एव पारलौकिक सुख सभी विनयसे ही प्राप्त होते हैं, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवासजनित क्लेशों से' ऐसे अभिनिवश का नाम वैनयिक मिथ्यात्व है।

प्रश्न—सशय मिथ्यात्व किसको कहते हैं?

उत्तर—सशय मिथ्यात्व म सर्वत्र सदह ही है, निश्चय नहीं है, एसे अभिनिवेशको सशय मिथ्यात्व कहते हैं। इस प्रकार अनादि काल से जीव मिथ्यात्व का सेवन करता है। (ध ८, २०)

एक्केक्क तिण्णि जणा दो दो यण इच्छद तिवग्गम्मि।
एक्को तिण्णि णइच्छइ सत्त वि पावेति मिच्छत॥

अर्थ—तीन जने त्रिवर्ग अर्थात् पुन्य, अर्थ और काम म एक एककी इच्छा करते हैं, अथवा कोई पुण्यको, कोई कोइ अर्थको, कोई कामको ही चाहता है। दूसरे तीन जने

इनमे दो दो की इच्छा करते है, अर्थात् कोई पुण्य और अर्थ को, कोई पुण्य और कामको, तथा कोई अर्थ और कामको ही चाहता है। कोई एक तीनोंकी इच्छा नहीं करता अर्थात् तीनो मे से एकको भी नहीं चाहता है। (प ६.२०८

अनादिकाल से यह जीव पुण्य भावम ही मोक्ष मान रहा है, पुण्य भाव जो बंधन का ही कारण है, उस भावसे मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? जैसे कोई कादा (प्याज) खाता खाता अमृत की डकार चाहता है वह कैसे मिल सकती है? नहीं मिल सकता है। उसी तरह भक्ति भाव पुण्य भाव है, एसे भक्ति भाव से मोक्ष की कल्पना करना मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—पुण्य भावको परंपरा मोक्षका कारण तो माना है?

उत्तर—पुण्य भावको परंपरा मोक्ष का कारण माना है, इसको आप परमार्थ अर्थ न समझें।

शंका—इसका परमार्थ अर्थ क्या है?

समाधान—जैसे पाप भाव छोडते छोडते पुण्य भाव होता है। परन्तु पाप भाव करते करते पुण्य भाव होता नहीं। इसी प्रकार पुण्य भाव छोडते छोडते धर्म भाव होता है, परन्तु पुण्य भाव करते करते धर्म भाव नहीं, ऐसा परंपरा का अर्थ करना चाहिये।

प्रकारका होता है। १ सद्भाव कारण, २ अभाव कारण। जैसे ज्वर का सद्भाव निरोगताका कारण नहीं है, परन्तु ज्वर का अभाव ही निरोगता का कारण है। इसीप्रकार पुण्यभावरूप ज्वर निरोगतारूप मोक्षका कारण नहीं है, परन्तु पुण्य भाव रूप ज्वर का अभाव मोक्षका कारण है।

शंका—तब क्या पुण्य भाव करना छोड दें ?

समाधान—नहीं, जैसे पाप भावतो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ से छोडा जाता है वैसे पुण्य भाव बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ से नहीं छोडा जाता। यह तो जैसे जैसे वीतराग भाव बढ़ता है, एसे एसे आप ही सहज छूट जाता है। अष्ट द्रव्य द्वारा देवकी पूजा करना, उपवासादि वाह्यतप करना इत्यादि पुण्य भाव है वेह दखिये वैसे सहज छूट जाते हैं।

जीवका जब अष्टम प्रतिमारूप भाव होता है तब आरभका भाव छूट जाने से पात्रादि जीवोंको दान देनेका भाव सहज होता ही नहीं है। जब नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमारूप भाव होता है तब दानादि एव अष्ट द्रव्य द्वारा अरहंत भक्ति के भावका अभाव सहज हो जाता है। जब जीवके सातवा गुणस्थानरूप भाव होता है तब सहज बाह्य और अभ्यंतर तप के विकल्प का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पुण्य भावका अभाव होता जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य भावका अभाव मोक्षमार्ग में कारण

है परन्तु पुण्य भावका सद्भाव तो नियमसे मोक्षमार्गका घात करनेवाला है। इसीलिये तो पुण्य भावको आत्म शान्तिकी अपेक्षा व्यभिचारी भाव कहा है। इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव पुण्य भाव में धर्मबुद्धि करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के फलसे मिली हुई वस्तु जैसे शरीर, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, लक्ष्मी आदि मेरी है वह मान्यता मिथ्यात्वकी है। क्योंकि जिस शरीर को आप अपना मानते हो, जिसकी दिनरात वैयावृत्ति करते हो वह आपकी एक भी बात नहीं मानता। वह तो आप की इच्छा हो या न हो नियमसे कालके अनुकूल अपनी अवस्था धारण करता है। जैसे काले बालों का सफेद हो जाना, दांत टूट जाना, शरीर में कुडचली (झुर्रियाँ) पड़ जाना, जराकी अवस्था आजाना, यहतो होता ही रहता है, तो भी मूढ जीव समझता ही नहीं है कि यह मेरे आधीन नहीं है। और इसकी अवस्था में फेर फार देख कर दुखी होता है। यह मिथ्यात्वका ही भाव है।

संसारमें तीन प्रकार के प्रधान रोग हैं। १ शारीरिक रोग, २ क्षुधा रोग, ३ काम रोग।

- शारीरिक रोगमें जीव औषधि खाता है ... तो ...से औषधि खाता है कि रोग ...

औषधि खानेको चाहता नहीं है। तब तो यह भी विचार नहीं करता है कि यह औषधि कटुक है परन्तु रोग नाश की भावना के कारण कटुक औषधि खान में ग्लानि नहीं करता है। क्षुधारोगकी औषधि अहार लेना है, वहा विपरीत भाव है। यह भोजन अच्छा नहीं है, यह अच्छा है। ऐसा मुझको बहुत पसद है, एसा ही हर रोज मिले इस भावना से अहारादिकका सेवन करता है परन्तु। वहा क्षुधा रोग मिटाने का यदि भाव होता तो जो सामग्री भोजन में मिली उससे सतोष कर क्षुधा रोग मिटाने की चेष्टा करता। परन्तु बढ़िया सामग्रीकी चाहना करता है। इसका यह ही अर्थ हुआ कि मुझको क्षुधारोग हर रोज हो, और ऐसी उत्तम २ सामग्री हर रोज मिले,यही भावना मिथ्यात्वकी है। इसी प्रकार काम का भी रोग है इसको मिटाने के लिए स्त्री आदिका सेवन करता है परन्तु इसको औषधिकी रूपम सेवन नहीं करता है, परन्तु भोगम बडा ही आनन्द मानता है। यह सब क्या है? यही तो मिथ्यात्व है? रोगम आनन्द मूर्ख क सिवाय और कौन मान सकता है। परन्तु एसा भाव नहीं है कि यह रोग कब मिट जाव और औषधिरूप स्त्री का सेवन कर छूट जाव इस भावना के न होने का कारण मात्र मिथ्यात्व भाव ही है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्मक फलसे मिली हुई देह, मनुष्य

तिर्यञ्च नारकी रूप संयोग [illegible] अज्ञानके कारण अपनी [illegible] है। यही मिथ्यात्व भाव है। मैं बालक हूँ, [illegible] मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं [illegible] बैल, कुत्ता, सिंह, [illegible] जो जो पौद्‌गलिक संयोगी [illegible] मैं हूँ,' ऐसा मानकर दुःखी हो रहा है। [illegible] अपने को भान नहीं है। [illegible] की तरह बोलता है कि मैं [illegible] मैं काला हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं [illegible] रहा है, यही सब मिथ्यात्व [illegible] पर्याय मूढ जीव है। [illegible] उसी को अपनी [illegible] जैन कुल में उत्पन्न हुआ, [illegible] अवकाश भी मिला, [illegible] प्राप्त हुआ, परन्तु [illegible] नहीं। जैसे एक [illegible] दो दिन का बच्चा [illegible] बच्चे को अपनी [illegible] लिया। बच्चा बकरियों [illegible] अपने को मान [illegible]

दिखता है, परन्तु अपने चेहरे का भान नहीं है। बकरियों के साथ रह कर वह भी अपने को बकरी मानने लगा। बकरी का दूध पीता है और आनद मान रहा है। एक दिन वही सिंह का बच्चा नदी म जल पीने को गया। नदी का जल शान्त बह रहा था। उसम एक भी कल्लोल उठती नहीं थी। एसे शान्त बहते पानी म जल पीते पीते सिंह के बच्चे ने जलकी स्वच्छता म अपना चेहरा देखा। तब वह सोचने लगा कि मैं बकरी की जात का नहीं हूँ। परन्तु म किस जाति का हू —यह उस को ज्ञान नहीं है। एक दिन जगल का सिह शिकारके निमित्त से उन बकरियों के टोले म आगया। उसने जैसे ही सिंह नाद किया कि सब बकरिया भागने लगीं। इसको देखकर सिंह का बच्चा भी भागने लगा। भागते २ विचार करता है कि सब क्यों भागते हैं ? तब उसने मुख मोड़कर देखा तो सामने एक सिंह को देखा। देखते ही वह सोचने लगा की यह तो मेरी जाति का है। मैं क्यों भागू ? तब उसने भी सिंह नाद किया। यह नाद सुनकर जगल का सिंह विचारने लगा कि यह तो मेरी जातिका है, इसलिये मैं अब शिकार कर नहीं सकता हू, ऐसा सोचकर वापिस लौट गया। सिंह के बच्चे को ज्ञान हो गया कि मैं कौन हू। यह सोचकर बकरियों का सग छोड़कर एकाकी जगल म

रहने लगा। इसी प्रकार यह जीव अनादि से पौद्गलिक शरीर के साथ रहता है। परन्तु उसको मालूम नहीं है कि मैं कौन हूं। उसने तो शरीर कोही अपना मान रखा है। शरीर की अवस्था बदलने से अपनी अवस्था बदली हुई मानता है। शरीर के नाशसे अपना नाश मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति मानता है। देव दर्शन करने का फल यह था कि देवकी स्वच्छ मूर्ति में जो अनत चतुष्टय रूप गुणका आरोप किया है उसको देखकर विचार करे कि, मैं मनुष्य नहीं हू परतु मै तो सिद्ध की जाति का हू, अर्थात् मै पुद्गलकी अवस्था नहीं हू, परतु मै तो चेतन्य जातिका हू। यदि एक ही दफे जीवको विश्वास हो जावे, प्रतीति हो जावे, तो चार गतिरूप जीवन मरण से बच कर अपने पदकी प्राप्ति कर सकता है। परतु इस तरफ दृष्टि नहीं है। इसी कारण कर्म जनित जो जो अवस्था मिलती है उसी को अपनी मानता है, यह ही मिथ्यात्व है।

मै पर जीवको मार सकता हूँ, मै पर जीव को बचा सकता हूँ, मै पर जीवको सुखी दुखी कर सकता हूँ एव पर जीव मुझको मार सकता है, पर जीव मुझको बचा सकता है और पर जीव मुझको सुखी दुखी कर सकता है— यह जो विकल्प होता है वह सब मिथ्यात्वभाव है।

पूर्ण होने से ही मरण हुआ है। जहा २ अपने जीवित रहने की इच्छा हो और मरण हो जावे वहा २ उदय से ही मरण हुआ है। ऐसा जानना चाहिये।

२-एक मनुष्य स्वय अपघात करे। स्वय जहर खा जावे। गले म फासी लगावे। स्वय कुवेम कूदकर मरण करे, ट्रेन की पटड़ी पर स्वय सो कर मरण करे, एसे मरणका नाम अकाल मृत्यु है। क्योंकि अपने तीव्र क्रोधादि कषायरूप भावसेही आयुक निषकोंका नाश किया जाता है। दूसरा आदमी कषाय करे और दूसरे आदमीकी आयुके निषकका नाश कभी हो नहीं सक्ता। जैसे एक जीवके पासम मोहनीय कर्म सत्तर कोडाकोडी स्थिति वाले हैं। वह अपने परिणाम निर्मलकर अन्तर्मुहूर्तम उस कर्मकी स्थिति अत कोडाकोडीकी कर सकता है। परन्तु दूसरा जीव भाव करे और कर्मकी स्थिति घट जाव ऐसा सभव नहीं है। हरएक जीवके अपन २ कर्मों क साथ अपने २ भावका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिस जीवका एसा भाव रहता है कि म मरही जाऊँ ऐसा परिणामो द्वारा अपघात किया जाता है, उसीका नाम अकाल मृत्यु है। और जिन जीवों को म बच जाऊँ, म बच जाऊँ, ऐस भावोंक साथ मरण होता है, एसे मरणका नाम अकाल मृत्यु नहा है।

अनादिकालसे यह जीव परपदार्थों म इष्टानिष्ट बुद्धि

करता है यही अनंत संसारका कारण मिथ्यात्व भाव है। संसारमें कोई पदार्थ अच्छा बुरा नहीं है, परन्तु मोहके वश होकर जीव अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। धूपके दिनमें जिस मलमलको अच्छी मानते हो उसी मलमलको जाड़ेके दिनमें खराब मानते हो। जिस विष्ठा को आप खराब मानते हो उसी विष्ठाको शूकरादि अच्छा मानते हैं। जिस गाली को आप खराब मानते हैं उस गाली को अपनी ससुराल के घर में अच्छी मानते हैं। जिस देवकी मूर्तिको आप अच्छी मानते हो उसी देवकी मूर्तिका और लोग खण्डन करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संसारमें कोई पदार्थ अच्छे बुरे नहीं हैं, परन्तु मोह भावकी कल्पनासे जीव अच्छा बुरा मानकर सुखी दुःखी होता है यही जीवका मिथ्यात्व भाव है।

देव, गुरु, शास्त्र कल्याण कर सकता है। अच्छे देव मिलजाव तो मेरा कल्याण होजावे। यह सभी मिथ्यात्व भाव है। अच्छे गुरु मिलजावे तो कल्याण होजाव। यदि कोइ गुरु धागा, टोरा बना देवे तो कल्याण होजाव, इत्यादि सब विकल्प मिथ्यात्व के ही हैं। महावीर धन देता है, पुत्र देता है, मुकदमा जिता देता है इस मान्यतासे महावीरजी जाना यह सब मिथ्यात्व भाव हैं। शिखरजी परसे अनन्त जीव मुक्ति में पधारे हैं। इन

कारण शिखरजी का कंकर कंकर पूज्य है ऐसी मानना मिथ्यात्व की है। शिखरजी पूज्य नहीं है, वह तो पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव है। वह अपने से पूज्य कैसे हो सकता है? परन्तु वहां से जो मुनि महाराज मोक्ष में पधारे हैं उन मुनि महाराज के गुणों की पूजा की जाती है, जिसका आरोप शिखरजी में मात्र उपचार से किया जाता है। जैसे समवशरण में श्री तीर्थंकर देव विराजमान हैं, इसी कारण समवसरणकी महिमा है, परन्तु वहां तीर्थंकर की महिमा न मानकर मात्र समवशरण की महिमा मानना मिथ्यात्व भाव है। तीर्थंकर के गुणों की जय ध्यान में न आवे और मात्र समवशरण की जय बोलना वह तो मिथ्यात्व भाव है। हलवे की कढ़ाई की महिमा नहीं है महिमा तो कढ़ाई में जो हलवा है उसकी है। परन्तु कढ़ाई की महिमा आती है वेही मिथ्यात्व है। देव गुरु शास्त्र हमारा कल्याण कभी कर नहीं सकते हैं। देव का तो आदेश है कि मेरी सेवा करना छोड़कर, जो मैंने मार्ग दिखाया है उसपर चलो! परन्तु हम जो स्वयं उस मोक्षमार्ग पर चले नहीं तो देवमें भी शक्ति नहीं है कि पर जीवोंका कल्याण कर सके, ऐसी धारणा न होय तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

प्रश्न—उपशम सम्यग्दृष्टि जीव कबसे कहा जाताहै?

उत्तर—अन्त करण समाप्त होने के समयसे लेकर यह जीव 'औपशमिक' कहलाता है।

शका—यदि ऐसा है, अर्थात् अन्त करण समाप्त होनेके पश्चात् यह जीव औपशमिक कहलाता है तो इससे पूर्व अर्थात् अध करणादि परिणामों के प्रारम्भ होने से लेकर अन्त करण होने तक उस जीव के औपशमिकपने का अभाव प्राप्त होता है?

समाधान—अन्त करण समाप्त होने के पूर्व भी यह जीव औपशमिक ही था किन्तु मध्य दीपक करक शिष्यो क प्रतिबोधनार्थ " यह दर्शन मोहनीय का औपशमिक है' या इस प्रकार यति वृषभाचार्य ने (अपनी कषाय पाहुड) चर्णी के उपशम के अधिकारम कहा है। इसलिए यह वचन अतीत भाग के औपशमिकता का प्रतिषेध नहीं करता है।

प्रथम स्थिति से और द्वितीय स्थिति से तब तक आगाल और प्रत्यागाल होते रहते हैं, जब तककी आवली और प्रत्यावली मात्र काल शेष रहजाता है। इसकेपश्चात् अर्थात् आवली प्रत्यावली मात्र काल शेष रहने के समय से लेकर मिथ्यात्व की गुण श्रेणी नहीं होती है, क्योंकि उस समय म उदयावली से बाहिर कर्म प्रदेशों का निक्षेप है। किन्तु आयुकर्म को छोडकर शेष होती रहती है, उस समय

चारित्र क्यों प्रगट नहीं होता है ? इससे सिद्ध होता है कि चारित्रकी प्राप्ति रागद्वेषकी निवृत्तिसे ही होती है।

प्रश्न—मिथ्याती अनतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों का क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

समाधान—नहीं! क्योंकि तीन करण करके अनिवृत्ति करणके चरम समयमें पहले अनंतानुबंधी चारका एकसाथ क्षय करता है। तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके, उनमसे अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनोंका उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग व्यतीत होजानेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है। इसके अनंतर अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है।

(ध १–२१६)

प्रश्न—मिथ्यात्वकर्मका तीन भाग कब होता है ?

उत्तर—"अन्त करणकरके" ऐसा कहने पर काडकघातके बिना मिथ्यात्व कर्मके अनुभाग को घात कर और उसे सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग रूप आकार से परिणमाकर प्रथम उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्वरूप एक कर्मके तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उत्पन्न करता है। (ध ६–२३४)

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव चेत्रसे अनन्त हैं वह बुद्धिसे कैसे मापा जाता है ?

उत्तर—लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक मिथ्यादृष्टि जीव को निक्षिप्त करके एक लोक हो गया, इसी प्रकार मनसे संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार पुन पुन माप करने पर मिथ्यादृष्टि जीव राशि अनन्त लोक प्रमाण होती है। इस प्रकार बुद्धि से मिथ्यादृष्टि जीव राशि मापी जाती है। इस विषय की यहा पर उपसंहार रूप गाथा कहते हैं कि —

लोगागास पदेसे एक्केके णिक्खिवेवि तह दिट्ठ।
एव गणिज्जमाणे हवंति लोगा अणंता दु ॥ २३ ॥

अर्थ—लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक मिथ्यादृष्टि जीवको निक्षेप करनेपर जैसा जिनेन्द्रदेवने देखा है उसी प्रकार पूर्वोक्त लोकप्रमाण के क्रमसे गणना करते जानेपर अनन्त लोक होता है। [ध ३–२३]

शंका—लोक किसे कहते हैं ?

समाधान—जगच्छ्रेणीके घनको लोक कहते हैं।

शंका—जगच्छ्रेणी किसे कहते हैं ?

समाधान—सात राजू प्रमाण आकाश प्रदेशाकी लम्बाईको जगच्छ्रेणी कहते हैं।

शंका—राजू किसे कहते हैं ?

सासादन गुणस्थान

जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जाता है उसके बीचके अन्तरकाल का नाम सासादन गुणस्थान है। सासादन सम्यग्दृष्टि का जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्टकाल छह आवली काल है। यह काल इतना सूक्ष्म है कि छद्मस्थ जीवों के ज्ञानगोचर नहीं है।

प्रश्न—संख्यात वर्षायुवाले मनुष्य सम्यक्त्व व सासादन में मरकर सासादन गुणस्थान में आसकता है या नहीं?

उत्तर—इसके विषय में दो मत हैं। अन्तर प्ररूपणा के सूत्र ७ में बताया है कि सासादन सम्यग्दृष्टि का जघन्य अन्तर काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। इसका कारण धवलाकार ने यह बतलाया है कि सासादनसे मिथ्यात्व में आये हुए जीवके जब तक सम्यक्त्व और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियों की उद्वेलन घात द्वारा सागरोपम या सागरोपम पृथक्त्व मात्र स्थिति नहीं रह जाती है तब तक वह जीव पुनः उपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं [illegible] जहां से कि सासादन भाव की पुनः [illegible]
घात द्वारा उक्त क्रिया क[illegible]
[illegible]तवें भाग प्रमाण
प्रकरण में सू[illegible]

७३ गतियोगति चूलिका म प्रश्न यह है कि जो जीव देव या नरक गतिसे मनुष्यभवम सासादन गुणस्थान सहित आया है वह सासादन गुणस्थान सहित मनुष्यगतिसे किस प्रकार निर्गमन कर सकता है ? धवलाकार ने यह इस प्रकार बतलाया है कि देवगति से सासादन गुणस्थान सहित मनुष्यगतिम आकर व पल्योपमके असख्यातवें भागका अन्तरकाल समाप्तकर उपशम सम्यक्त्वी हो सासादन गुणस्थानम आकर मरण करनेवाले जीवके उक्त बात घटित हो जाती है। पर वह व्यवस्था केवल असख्यात वर्षकी आयु वाले मनुष्योम, क्योंकि सख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्यों म उक्त उद्वेलन घात के लिये आवश्यक पल्योपमका असख्यातवा भागकाल प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। यह व्यवस्था भूतबली आचार्य के मत के अनुसार है। किन्तु कषाय प्राभृत के चूर्णी सूत्रोंके कर्ता यतिवृषभाचार्यके मता-नुसार, सासादन सम्यक्त्व सहित मनुष्यगतिम आया हुआ जीव मिथ्यादृष्टि होकर पुन द्वीतियोपशम सम्य-क्त्वी हो उपशमश्रेणी चढ पुन सासादन होकर मर सकता है, और इसलिये यह बात स९७... ...वाले मनु-ष्याम भी घटित हो सकती है ...से उत...

... स्र सासादन गुणस्थानमे ...
मानते और इसलिये ...

है, उस प्रकार पर्याप्त अवस्था सहित नरक गति के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है। यदि कहो कि नरकगति म अपर्याप्त अवस्था के साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यो है ? तो उसका यह उत्तर है कि यह नारकिया का स्वभाव है और स्वभाव दूसरे क प्रश्न क योग्य नही होता।

शका—यदि एसा है तो अन्य गतियो के अपर्याप्त कालम भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत हो, क्योंकि अपर्याप्त कालक साथ सासादन गुणस्थान का विरोध है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस तरह नारकियो के अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थान का विरोध है, उस तरह शेष गतियों के अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है।

(ध १—२०५)

सासादन गुणस्थानवर्ती सप्तम पृथ्वीका नारकी पचेन्द्रिय तिर्यञ्चम देवोंक समान मारणान्तिक समुद्घात करता नहा है।

शका—जहापर सासादन सम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद नहीं है, वहापर भी यदि सासादन सम्यग्दृष्टि देव मारणान्तिक समुद्घात को करत है, तो सातवीं पृथिवी क नारकियोंको सासादन गुणस्थान के साथ पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो

म मरणान्तिक समुद्घात करना चाहिये, क्योंकि सासादन गुणस्थान की अपेक्षा दोनों म कोई विशेषता नहीं है अर्थात् समान है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है ! क्योंकि देव और नारकी इन दोनोंकी भिन्न जाति है। सातवीं पृथ्वीके नारकी गर्भजन्म वाले पचेन्द्रियो म ही उपजने के स्वभाव वाले हैं, और देव पचेन्द्रियो म और एकेन्द्रियो म उत्पन्न होने रूप स्वभाव वाले हैं, इसलिए दोनों समान जातिवाले नहीं हैं। जो जिस जाति म प्रतिपन्न है, अर्थात् स्वीकृत है, वह उसी जाति का माना जाता है, एसा स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा अनवस्था दोषका प्रसग आ जायेगा। इसलिये सातवीं पृथ्वी के नारकी सासादन गुणस्थान के साथ देवोंके समान मारणान्तिक समुद्घात नहा करते, यह बात सिद्ध हुई। (ध ४–१६३)

सुमेरुपर्वत के मूल भागसे नीचे तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं।

शका—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरु तलम नीचे मारणान्तिक समुद्घात नहीं करत हैं, तो मेरु तलसे स्थित भवनवासी देवोंम उनकी उत्पत्ति भी नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है ! क्योंकि मेरु तलसे

नीचे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका मारणान्तिक
नहा होता है, यह सामान्य अर्थात् द्रव्यार्थिक
वचन है। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे क
पर तो वे नारकियोंमें अथवा मेरुतलमें अधोभाग
द्रिय जीवोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते
परमार्थ है। (ध. ४–२०४)

एकेंद्रिय जीवोंके मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान

शंका—एकेंद्रिय जीवोंमें सासादन गुण
गुणनम आता है इसलिये उनके केवल एक
गुणस्थान होता है यह कैसे बन सकेगा? (सू

समाधान—नहीं! क्योंकि षट्खण्डागम सूत्रों
यादिकोंके सासादन गुणस्थान का निषेध किया

शंका—दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप
यह सूत्ररूप नहीं है यह कैसे जाना जावेगा?

समाधान—उपदेशके बिना दोनोंमसे कौ
सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है। इसलि
वचनोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका—दोनों वचनोंको संग्रह करनेवाल
मिथ्यादृष्टि हो जावेगा।

समाधान—नहीं। क्योंकि संग्रह करनेवा

अतएव उसके सदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है कि–

सुत्तादो त सम्म दरिसिज्जन्त जदा ण सद्दहदि ।
सोचेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ॥१४३॥

अर्थ—सूत्रसे आचार्यादिक द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोडकर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयमे वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (ध १-२६१)

प्रश्न—एकेंद्रियमे जानेवाला सासादन सम्यग्दृष्टि कौन कौन कायमे जाता है ?

उत्तर—एकेंद्रियमे जानेवाला सख्यात वर्ष आयुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच, वादर पृथ्वीकायिक, वादर जलकायिक, वादर वनस्पतिकायिक, प्रत्येक शरीर पर्याप्तकोमे ही जाता है, अपर्याप्तकोमे नहीं जाता। (सूत्र १२१-६)

इसके विषयमे अनेक मत है। (ध ६–४६०)

'पूज्यपाद स्वामी' ने सर्वार्थ सिद्धिमे लिखा है कि कृष्ण, नील, और कापोत लेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन प्रमाण बताते हुए लिखा है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेंद्रियोंमे उत्पन्न नहीं होते है। देखो स सि १–८ स्पर्शन प्ररूपणा।

तिर्यञ्च, मनुष्य, व देवगति के स्पर्शनका जो

है उससे स्पष्ट होता है कि, उन्हें सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियमें उत्पन्न होना स्वीकार था। (देखो श्रुतसागर टीका से लिये गये टिप्पण) तत्त्वार्थ राजवार्तिक और गोमट्टसार जीवकाण्ड में लिखा है कि, पंचेन्द्रिय को छोडकर शेष समस्त एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका ही विधान पाया जाता है (त रा ९-७ गो जी ६७७) किन्तु कर्मकाण्ड में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय जीवों की अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्वका विधान किया गया है। परन्तु लब्धि-अपर्याप्तक, साधारण, सूक्ष्म तथा तेज और वायुकायिक जीवोंमें उसका निषेध है। (गा ११३-११५

,अमितगति आचार्य ने पंचसंग्रह पृष्ठ ७५ में सात अपर्याप्त और संज्ञी पर्याप्त इन आठ जीव समासों में सासादन सम्यक्त्व का विधान किया है, जिसके अनुसार विकलेन्द्रिय तथा सूक्ष्म जीवों में भी सासादन सम्यक्त्व का उत्पन्न होना संभव है।

भगवती पन्नवणा व जीवाभिगम आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंके मतानुसार एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं होता है, परन्तु द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों में होता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर कर्म ग्रन्थों में एकेन्द्रिय व द्वीन्द्रिय आदि बादर अपर्याप्तकों में सासादन

गुणस्थान का विधान पाया जाता है। परन्तु तेज वायुकायिक जीवों में सासादन गुणस्थान का यहा भी निषेध है। (देखो कर्मग्रन्थ ४ गाथा ३-४५-४६ व पचमग्रहद्वार १ गा २८-२६) (ध ६-४६०)

लेखक का अभिमत—

दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव माना है। और और पारिणामिक भाव उस को कहते हैं जिसमें कर्म का सद्भाव तथा अभाव कारण न पड़ ऐसे भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। पारिणामिक भाव द्रव्यानुयोग का विषय है और द्रव्यानुयोग कर्म प्रकृतियों को स्वीकार नहीं करता है" जिससे द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से एकेन्द्रियादि सभी जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। करणानुयोग की अपेक्षा से एकेन्द्रियादि जीवो क कर्मकी अपेक्षासे सासादन गुणस्थान नहीं होता है परन्तु मात्र प्रथम गुणस्थान होता है।

प्रश्न—सासादन गुणस्थानमें जघन्य व उत्कृष्ट बंध का कितना प्रत्यय है ?

उत्तर—एकेंद्रियसे एक कायकी विराधना ऐसे दो असयम प्रत्यय, सोलह कषायोंमसे कषाय, तीनों वेदोंमसे एक वेद, हास्य रति

है उससे स्पष्ट होता है कि, उन्हें सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियम उत्पन्न होना स्वीकार था। (देखो श्रुत सागर टीका से लिये गये टिप्पण) तत्त्वार्थ राजवार्तिक और गोमट्टसार जीवकाण्ड में लिखा है कि, पचेन्द्रिया को छोडकर शेष समस्त एकेन्द्रियो और विक्लेन्द्रियो म केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका ही विधान पाया जाता है (त रा ६-७ गो जी ६७७) किन्तु कर्मकाण्ड म एकेन्द्रिय व विक्लेन्द्रिय जीवो की अपर्याप्त अवस्था म सासादन सम्यक्त्वका विधान किया गया है। परन्तु लब्धि-अपर्याप्तक, साधारण, सूक्ष्म तथा तेज और वायुकायिक जीवोंम उसका निषध है। (गा ११३-११५)

,अमितगति आचार्य ने पचसग्रहम पृष्ठ ५५ म सातों अपर्याप्त और सज्ञी पर्याप्त इन आठ जीव समासो म सासादन सम्यक्त्व का विधान किया है, जिसके अनुसार विक्लेन्द्रिय तथा सूक्ष्म जीवा म भी सासादन सम्यक्त्व का उत्पन्न होना सभव है।

भगवती पन्नापना व जीवाभिगम आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोके मतानुसार एकेन्द्रिय जीवो म सासादन गुणस्थान नहीं होता है, परन्तु द्वीन्द्रियादि विक्लेन्द्रियों म होता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर कर्म ग्रन्था म एकेन्द्रिय व द्वीन्द्रिय आदि बादर अपर्याप्तको म सासादन

विशेषकर सरल्पी हिना ही होती है। अप्रत्याख्यानरूपाय म भी असख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। अव्रत सम्यग्दृष्टि मे तीव्र कृष्ण लेश्या भी रह सकती है एव परम शुक्ल लेश्या भी रह सकती है। मध्यम भेद असख्यात लोक प्रमाण है। अव्रत सम्यग्दृष्टिसे मायाचारीका सेवन भी हो सकता है, जैसे रामचन्द्रजीने सीताजीको कहा कि आप तीर्थक्षेत्रके दर्शनके लिये पधारो और इस आडम सीताजी को एकाकी जगलमें छोड़ देनेका आदेश अपने सेनापति को दिया यह भी तो मायाचारी है।

जिस मनुष्य ने सम्यग्दर्शन होने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य, तिर्यंच या नरकायु को बाध लिया है, वही जीव पीछे सम्यक्त्वको ग्रहणकर, यदि मनुष्य और तिर्यंचायुका बध किया है, तो नियमसे भोगभूमि में ही जावेगा, परन्तु विदेह क्षेत्रमें नहीं जाता है। मनुष्य मिथ्यात्व अवस्था में ही मरणकर विदेह क्षेत्र में मनुष्य उत्पन्न हो सकता है, सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरणकर सीधा विदह में मनुष्य रूप में उत्पन्न नहीं होता है। और जिस जीवने नरकायुका बध किया है बाद म सम्यक्त्वकी प्राप्ति की है वह पहले नरकम ही जावेगा इससे आगे नहीं जाता है।

सम्यग्दृष्टिको ही धर्मध्यान होता है मिथ्यादृष्टिको

दृष्टि बुद्धिपूर्वक त्रस तथा स्थावर जीवों के मारने के भावका त्याग नहीं कर सकता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि से सकल्पी हिंसा हो जाती है। जैसे विभीषणने निरपराधी दशरथ राजा तथा जनक राजा पर अपने बन्धु रावण के प्रति रागके कारण शस्त्र चलाकर घात किया यह घात सकल्पी हिंसा है। जैसे भरत महाराज तीन लडाइम हार गये तब क्षायके आवेश म आकर अपने भाइ बाहुबलीजी जो, निरपराधी हैं उन पर चक्र चलादिया, यह सकल्पी हिंसा है। सम्यग्दृष्टि जीवों को श्रद्धा की अपेक्षा सात भय नहीं है, परन्तु चारित्रकी अपेक्षा उसके भय है।
अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव सपूर्ण रीति से सप्त व्यसन का त्याग कर नहीं सकता है। सपूर्ण त्याग तो पचम गुण स्थानम ही होता है। जैसे युधिष्ठिर ने जुआ खेला। इस प्रकारका रागका सपूर्ण रीति स त्याग नहीं होता है। यह आत्माके पुरुषार्थकी कमजोरी है। अव्रत सम्यग्दृष्टि आत्मा के मद्य-मास मदिरा और पच उदबर फलका सपूर्ण रीतिसे त्याग हो जाता है, परन्तु विलायती दवा, बाजारकी मिठाई और अमर्यादित खाद्य पदार्थका सम्पूर्ण रीतिसे त्याग कर नहीं सकता है। अष्टमूल गुणोंका अतिचार सहित पालन करता है। और अष्टमूल गुणोंका अतिचार रहित पालन पचमगुणस्थानम ही होता है। नारकी अव्रती सम्यग्दृष्टिम

विशेषकर सकल्पी हिंसा ही होती है। अप्रत्याख्यानरूपाय म भी असख्यात लोक प्रमाण भेद है। अव्रत सम्यग्दृष्टि म तीव्र कृष्ण लेश्या भी रह सकती है एव परम शुक्ल लेश्या भी रह सकती है। मध्यम भेद असख्यात लोक प्रमाण है। अव्रत सम्यग्दृष्टिसे मायाचारीका सेवन भी हो सकता है, जैसे रामचन्द्रजीने सीताजीको कहा कि आप तीर्थक्षेत्रके दर्शनके लिये पधारो और इस याडम सीताजी को एकाकी जगलमें छोड देनेका आदेश अपने सेनापति को दिया यह भी तो मायाचारी है।

जिस मनुष्य ने सम्यग्दर्शन होने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य, तिर्यंच या नरकायु को बाध लिया है, वही जीव पीछे सम्यक्त्वको ग्रहणकरे, यदि मनुष्य और तिर्यंचायुका बध किया है, तो नियमसे भोगभूमि में ही जावेगा, परन्तु विदेह क्षेत्रमें नहीं जाता है। मनुष्य मिथ्यात्व अवस्था में ही मरणकर विदेह क्षेत्र में मनुष्य उत्पन्न हो सकता है, सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरणकर सीधा विदह में मनुष्य रूप में उत्पन्न नहीं होता है। और जिस जीवने नरकायुका बध किया है बाद म सम्यक्त्वकी प्राप्ति की है वह पहले नरकम ही जावेगा इससे आगे नहीं जाता है।

सम्यग्दृष्टिको ही धर्मध्यान होता है मिथ्यादृष्टिको

कभी भी धर्मध्यान नहीं होता है। धर्म ध्यान का चार पाया दिखाया है। १ आनाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाक विचय और ४ संस्थान विचय। यह धर्म ध्यान नहीं है, यह तो व्यवहार धर्म ध्यान अर्थात् पुण्य भाव है, वह तो अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी होता है। यथार्थम धर्म ध्यान तो वीतराग भाव का नाम है। चौथे गुणस्थान म पहलापाया, पचमगुणस्थानम दूसरा पाया, छट्ठेगुणस्थान म तीसरा पाया, और सातवें गुणस्थानम चौथा पाया आगम ग्रथो म लिखा है। इसका परमार्थ अर्थ यह है कि अनतानुबधी कषाय का अभाव होना पहला पाया, अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव होना दूसरा पाया, प्रत्याख्यान कषाय का अभाव होना तीसरा पाया तथा प्रमाद का अभाव होना चौथा पाया है। इस प्रकार परमार्थ अर्थ समझना चाहिये।

शका—धर्मध्यान पाच भावोमसे कौनसे भावोम होता है?

समाधान—धर्म ध्यान उपशम तथा क्षायक भावम ही होता है।

शका—धर्मध्यान तो सातवें गुणस्थान तक ही होता है और क्षपक श्रेणी सातवें गुणस्थान बाद म ही माँड़ी जाती है तो यहा क्षायक भाव कैसे होता होगा?

समाधान—क्षायक सम्यग्दर्शन होने तो अनन्तानु-

वधी कषाय के अभाव रूप क्षायक भाव है। क्योंकि वीतराग भाव अर्थात् धर्म भाव क्षायक भाव तथा उपशम भाव में ही होता है।

शंका—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान पांच भावों में से कौन २ से भाव में होता है।

समाधान—आर्त ध्यान तथा रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव में ही होता है। यदि औदयिक भाव में ही आर्तध्यान रौद्रध्यान माना जावे तो औदयिक भाव तो कषाय की अपेक्षा से दसवें गुणस्थान तक होता है जब आर्तध्यान छठे गुणस्थान बाद होता ही नहीं है जिससे सिद्ध हुआ कि आर्तध्यान क्षायोपशमिक भाव में ही होता है। भाव उदीरणा क्षायोपशमिक भाव में ही होती है।

चतुर्थगुणस्थानवाला सर्वार्थ सिद्धि का देव आत्म चितवनादि कार्य करे वहाँ भी निर्जरा नहीं बंध घना होय, और पंचमगुणस्थानवाला विषय सेवनादि कार्य करे वहां भी उसके निर्जरा घना और बंध थोड़ा होय। तथा छट्टा गुणस्थानवाला आहार विहारादि क्रिया करे तिस-काल विषे भी उसके निर्जरा पंचमगुणस्थान वालो से विशेष कही है। यह कथन उदय की अपेक्षा से कहा है, अर्थात् चौथे गुणस्थान वाले के तीन कषायका बंध पड़ता है, पंचम गुणस्थान वाले के दो कषाय का

पडता है, छह गुणस्थान वाले के मात्र एक सज्वलन कषाय का बंध पडता है, यह तो उदय की अपेक्षा से कथन है, परन्तु उदीरणा की अर्थात् वर्तमान बुद्धि पूर्वक अपराध की अपेक्षा से कथन किया जावे तो सर्वार्थ सिद्धि देवके परम शुक्ल लेश्या है और पचम तथा छठे गुण-स्थानवर्ती जीवो के उत्कृष्ट पीत लेश्या होजाती है।

प्रश्न—मनुष्य प्रथमोशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कब कर सकता है?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि मनुष्य पर्याप्तक प्रथम सम्य-क्त्वको उत्पन्न करनेवाले गर्भोपक्रान्तिक मिथ्यादृष्टि मनुष्य आठ वर्ष से लेकर उपर किसी समय भी उत्पन्न कर सकते है इससे नीचे के काल म नहीं कर सकते हैं। (ध ६४२९)

प्रश्न—देवोम प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है?

उत्तर—पर्याप्तकों म प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले देव अन्तर्मुहूर्त कालसे लेकर ऊपर उत्पन्न कर सकते हैं, उससे नीचेक कालम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पर्याप्त-कालके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक तीन प्रकार के करणपरिणामो का अभाव पाया जाता है।

(ध. ६–४३१)

प्रश्न—सज्ञी तिर्यञ्चों मे प्रथम सम्यक्त्व कौन प्राप्त

कर सकता है ?

उत्तर—सञ्ज्ञी तिर्यञ्चों में भी प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव गर्भोपक्रान्तिक जीवों में ही उत्पन्न होते हैं, सम्मूर्च्छिमोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

सब द्वीप समुद्रों में तिर्यञ्च प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं।

शंका—भोगभूमि के प्रतिभागी समुद्रों में मत्स्य या मगर नहीं है ऐसा वहा त्रस जीवों का प्रतिषेध किया गया है, इसलिए उन समुद्रों में प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना उपयुक्त नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि पूर्वभवके वैरी देवों के द्वारा उन समुद्रों में डाले गये पचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी सभावना हो सकती है। (ध ६–४२५)

प्रश्न—नरक गति में सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर—पर्याप्त होने के प्रथम समय से लगाकर तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्त तक निश्चय से जीव प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त कालके बिना प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने योग्य विशुद्धि की उत्पत्ति का अभाव है।

शंका—आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष ... नारकी

समाधान—नहीं। क्योंकि जिनकी वहा पर ही उत्पत्ति होती है और अन्यत्र उत्पत्ति सभव नहीं है उन्हीं मनुष्यों के पन्द्रह कर्म भूमियों का व्यपदेश किया गया है, न कि स्वयप्रभ पर्वत क पर भाग म उत्पन्न होने से व्यभिचार को प्राप्त तिर्यंचो के। कहा भी है कि—

दसण मोहक्खवणापट्ठवयो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवओ चावि सव्वत्थ ॥१७॥

अर्थ—कर्म भूमिम उत्पन्न हुआ, और मनुष्यगतिम वर्तमान जीव ही नियमसे दर्शन मोहकी चपणाका प्रस्थापक, अर्थात् प्रारभ करनेवाला होता है किन्तु उसका निष्ठापक अर्थात् पूर्ण करनेवाला सर्वत्र अर्थात् चारों गतिम होता है।

शका—मनुष्योंम उत्पन्न हुए जीव समुद्रों म दर्शन मोहनीय की चपणा का कैसे प्रस्थापन करते हैं।

समाधान—क्योंकि विद्या आदिकके वश से समुद्रो म आये हुए जीवा क दर्शन मोहका चपणा होना सभव है। (व ६–२४५)

प्रश्न—किस कालमें दर्शन मोहकी चपणा हो सकती है?

उत्तर—दुषमा, दुषमादुषमा, सुषमासुषमा और सुषमा कालम उत्पन्न हुए जीवोंक ही दर्शन मोहनीयकी चपणा नहीं होती है, अवशिष्ट दोनो कालामें उत्पन्न हुए जीवा

के दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि, एकेंद्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिकोंके दर्शन मोहकी क्षपणा देखी जाती है।

जो इसी भवमें तीर्थंकर या जिन होनेवाले हैं वे तीर्थंकरादिककी अनुपस्थितिमें तथा सुषमादुषमा कालमें भी दर्शन मोहका क्षपण करते हैं। उदाहरणार्थ कृष्णादि।

(व ६–२४७)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति कहाँ नहीं होती और दर्शन मोहकी क्षपणा कहाँ होती है?

उत्तर—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क देव, द्वितीयादि छहा पृथ्वीके नारकी, सर्व विकलेन्द्रिय, लब्ध्यपर्याप्तक और स्त्री वेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगतिके अतिरिक्त अन्य गतियोंमें दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणाका अभाव है (व ४–२१५)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि देवके अपर्याप्तकाल में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है?

समाधान—वेदक सम्यक्त्वसे उपशमसम्यक्त्वके उपशम श्रेणी पर चढ़कर फिर नीचे उतरकर प्रमत्त अप्रमत्तसंयत, असंयत और संयतासंयत उपशम गुणस्थानोंसे मध्यम वा जघन्य परिणति

रहा थाव, किन्तु यदि वहा रहनवाले देव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करे, तो इसम क्या विरोध आता है ?

समाधान—ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्यो कि औपशमिक सम्यक्त्व के अनतर ही औपशमिक सम्यक्त्वका पुन ग्रहण करना स्वीकार करने पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति के अनतर-पश्चात अवस्थाम ही मिथ्यात्वका उदय नियमसे होता है । किन्तु जिसके द्वितीय-तृतीयादि वार उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है, उसके औपशमिक सम्यक्त्व के पश्चात् अवस्था म मिथ्यात्वका उदय भाज्य है, अर्थात् कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर के वेदक सम्यक्त्व या उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर के वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होता है इत्यादि । इस कषाय प्राभृत के गाथासूत्रके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है । यदि कहा जाय कि अनुदिश और अनुत्तर विमानों में रहनवाला वेदक सम्यग्दृष्टि देव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, सो भी वात नहीं है, क्योंकि मनुष्यगतिके सिवाय अन्य तीन गतियो म रहने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीवो के दर्शन मोहनीय के उपशमन करने के कारण भूत परिणामो का अभाव ही है। यदि कहा जाय कि वेदक सम्यग्दृष्टि के प्रति मनुष्यों से

अनुदिशादि विमानवासी देवोंके कोई विशेषता नहीं है, अतएव जो दर्शन मोहनीय के उपशमन योग्य परिणाम मनुष्यों के पाये जाते हैं वे अनुदिश और अनुत्तर विमान वासी देवों में नियम से होना चाहिये, सो भी कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संयम को धारण करने की तथा उपशम श्रेणी के समारोहण आदि की योग्यता मनुष्यों के ही होनेके कारण अनुदिश और अनुत्तर विमानवासीदेवो में और मनुष्यों में भेद देखा जाता है। तथा उपशम श्रेणी में मरण करके औपशमिक सम्यक्त्व के साथ देवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव औपशमिक सम्यक्त्वके साथ छह पर्याप्तियोंको नहीं समाप्त कर पाता है, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में होनेवाले उपशम सम्यक्त्वके कालसे छः पर्याप्तियोंके समाप्त होनेका काल अधिक पाया जाता है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोंके पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। (ध २-५६६)

प्रश्न—जैसे ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना लब्धि और उपयोग रूप रहती है तैसे श्रद्धागुण लब्धि और उपयोग रूप रहता है या नहीं?

उत्तर—ज्ञानचेतना और दर्शन चेतना को जानने के लिये पाच इन्द्रियाँ और मन निमित्त है। इसलिए निवृ-
... कार्य करता है उस इन्द्रिय में तो उ

उपयोगरूप है और बाकीकी इन्द्रियाम उस समय ज्ञानचेतना लब्धि रूप है, परन्तु श्रद्धादि अनन्त गुणा में एसी बात नहीं है, कारण कि उसका कार्य देखना जानना नहीं, इस लिये और गुणों म लब्धि और उपयोग का भेद पडता नहीं है। अत प्रत्येक गुण परिणमनशील है। ज्ञान उपयोगरूप हो या नहीं परन्तु उस समय म सब गुण अपना अपना कार्य करते हैं।

शका—चतुर्थ गुणस्थान म चायक सम्यग्दर्शन हुवे बाद जैसे २ गुणस्थान बढता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मे शुद्धता बढती है या नहीं ?

समाधान—चायक सम्यग्दर्शन हुवे बाद उसम शुद्धता बढती नहीं है। शुद्धता कब बढ कि जब प्रतिपक्षी कर्मोंका सद्भाव हो ? परन्तु चायक सम्यग्दर्शन म तो प्रतिपक्षी मिथ्यात्वादि प्रकृतियां का सर्वथा नाश हुए बाद ही चायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसलिये उसम शुद्धता का अश भी बढता नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान म जैसा चायक सम्यग्दर्शन है एसा ही चायक सम्यग्दर्शन तीर्थंकरादिका क एव सिद्ध परमात्मा म समान है। चायक सम्यग्दर्शन म किंचित् अन्तर नहीं है।

प्रश्न—पचेन्द्रिय तिर्यञ्चपयोनिमतिम चायक सम्यग्दृष्टि जीव क्या नहीं होता है ?

उत्तर—क्योंकि [illegible]

की स्त्रीवेद में उत्पत्ति [illegible]

अतिरिक्त शेष गतियों में [illegible]

अभाव है, इसलिये [illegible]

क्षायक सम्यग्दृष्टि [illegible]

प्रश्न—नपुंसक वेदी [illegible]

अल्पबहुत्व किस प्रकार है?

उत्तर—नपुंसक [illegible]

कम हैं, उनसे नपुंसक [illegible]

असंख्यात गुणे हैं। [illegible] असं-

ख्यातवां भाग गुणाकार है। [illegible] प्रथम

पृथ्वी के क्षायक सम्यग्दृष्टि [illegible] है।

नपुंसक वेदी क्षायक [illegible] सम्यग्दृष्टि

असंख्यात गुणे हैं। [illegible] वेदी क्षायक

सम्यग्दृष्टि जीव सर्व [illegible] मनुष्य पर्याप्त

नपुंसक वेदी जीवों [illegible] अन्यत्र अभाव है।

प्रश्न—क्षायक [illegible]

कितने काल तक [illegible] है।

उत्तर—क्षायक [illegible] कम से कम [illegible]

कालतक और अधिक [illegible]

प्रमाण काल तक [illegible] सम्यग्दृष्टि [illegible]

वेदक सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शन मोहनीयका क्षपण करके क्षायक सम्यक्त्व को उत्पन्न कर जघन्य कालसे अवन्धक भावको प्राप्त होनेपर अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है। (ध ७-१७६)

प्रश्न–असयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमे कौनसा वेद और सम्यक्त्व रहता है?

उत्तर–असयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमे स्त्रीवेद के बिना दो वेद और तीनो सम्यक्त्व होते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव और सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारो ही गतियोमें उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करते पाये जाते हैं किन्तु मरणको प्राप्त नहीं होते हैं।

शका–यह कैसे जाना जाता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरण नहीं करते?

समाधान–आचार्यों के वचनसे और सूत्र व्याख्यान से जाना जाता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरते नहीं है। किन्तु चारित्र मोह के उपशम करनेवाले जीव मरते हैं, और देवोमे उत्पन्न होते हैं। अत उनकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमे उपशम सम्यक्त्व पाया जाता है।

प्रश्न–असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्योके अपर्याप्त कालमें कौनसा वेद रहता है?

उत्तर–एक पुरुष वेद होता है। केवल एक पुरुष

वेद होनेका यह कारण है कि देव नारकी और मनुष्य असयत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर यदि मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तो नियमसे पुरुष वेदी मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं, अन्य वेदवाले मनुष्योंमें नहीं होते हैं। (ध. २-५१०)

प्रश्न–असयत सम्यग्दृष्टि जीवोंके औदारिक मिश्र काययोगमें भावसे छहों लेश्या कैसे होती हैं?

उत्तर–भावसे छहों लेश्या होनेका यह कारण है कि जिस प्रकार तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यामें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होते समय नष्ट लेश्या हो करके अर्थात् अपनी अपनी पूर्व शुभ लेश्याको छोड़कर तिर्यंच और मनुष्योंम उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही कृष्ण, नील और कापोत लेश्यारूपसे नहीं परिणत होते हैं, किन्तु तिर्यंच और मनुष्योंम उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक पूर्वभवकी लेश्याओंके साथ रहकर पीछे अन्य लेश्याओंको प्राप्त होते हैं, अतएव यहांपर छहों लेश्यायें बन जाती हैं। (ध २–६५७)

'धवलाकारने सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्या मानी है–जब गोमट्टसार जीव काण्डमें आलापाधिकार में सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त आलाप बतलाते हुए एक— और तीन शुभ लेश्या इस प्रकार चार लेश्या'

बतलाई है, परन्तु गोम्मट्टसारमे वेदक सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त आलाप म छहा लेश्या कही है।

प्रश्न--तिर्यंच और मनुष्यो में उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि दव अन्तर्मुहूर्त तक अपनी पहली लेश्याओं को क्यो नहा छोडते है, इसका क्या कारण है?

उत्तर--इसका कारण यह है कि बुद्धि म स्थित है परमेष्ठी जिनके ऐसे सम्यग्दृष्टि देवो क मरणकाल में मिथ्यादृष्टि देवो के समान सक्लेश नहा पाया जाता है। इसलिये अपर्याप्त काल में उनकी पहले की शुभ लेश्याएँ ज्योकि त्यो बनी रहती है। (ध २-६५७)

प्रश्न--सम्यग्दृष्टि नारकी जीव मरते समय अपनी पुरानी कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को क्यो नहीं छोडत है।

उत्तर--इसका कारण यह है कि नारकी जीवाके जाति विशेषसे ही स्वभावत सक्लेशकी अधिकता होती है इस कारण मरण काल में भी उह नहीं छोडते है। (ध २-६५८)

प्रश्न--असयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचके अपर्याप्त अवस्थामें क्षायक सम्यग्दर्शन कैसे होता है?

उत्तर--जिन मनुष्या ने सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यंच आयु को बाध लिया है व पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण कर, और दर्शन मोहनीयको क्षपण करके क्षायक सम्यग्-

दृष्टि होकर असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोगभूमि के तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं। इस कारण भोग भूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवोंकी अपेक्षासे असंयत तिर्यंच सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में क्षायक सम्यक्त्व पाया जाता है। (ध २–४८०)

प्रश्न—सम्यक्त्व सहित नरक मे जानेवाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वापिस आते हैं, या कैसे आते हैं ?

उत्तर—सम्यक्त्व सहित नरकमें जानेवाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वहा से निकलते हैं। क्योंकि नरकमें उत्पन्न हुए क्षायक सम्यग्दृष्टियों के अथवा कृतकृत वेदक सम्यग्दृष्टियों के अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता है। और सासादन सम्यग्दृष्टियों का नरक गति में प्रवेश नहीं है।

उसी प्रकार सम्यक्त्व सहित तिर्यंचगति में जानेवाले जीव सम्यक्त्व के साथ ही वहा से निकलते हैं। क्योंकि क्षायक सम्यग्दृष्टियोंका, व वेदक सम्यग्दृष्टियोंका तिर्यंच गति में जाने पर अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता है। (ध. ६–४४१)

प्रश्न—सातों नरक में सम्यग्दृष्टि जीव सर्वकाल रहते हैं ?

उत्तर—सातों पृथ्वीमें असंयत सम्यग्दृष्टि जीव नाना

ग्यारह भेद हैं जिनसे प्रतिमा कहा जाता है। १ दर्शन प्रतिमा, २ व्रत प्रतिमा, ३ सामायिक प्रतिमा, ४ प्रोषध प्रतिमा, ५ सचित्त त्याग प्रतिमा, ६ पुरुषों के लिए रात्रि भुक्ति अनुमोदना त्याग प्रतिमा और स्त्री के लिये दिवस में पुन सयन त्याग प्रतिमा।

शका—यह छटवीं प्रतिमा म दो भेद कैसे है?

समाधान—इस प्रतिमाम अब्रह्मका त्याग नहीं हुआ है। स्त्री रात्रिम भोजनकी अनुमोदना का त्याग नहीं कर सक्ती है, क्योंकि अपने बच्चे को रात्रि म दूध, जल पिलावेगी इस कारससे स्त्री रात्रि भोजन अनुमोदनाका सपूर्ण रीति से त्याग नहीं कर सकती है। इस कारण दो भेद हैं।

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८ आरभ त्याग प्रतिमा ९ परिग्रह त्याग प्रतिमा १० अनुमति त्याग प्रतिमा ११ उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा। पहली प्रतिमासे छट्ठी प्रतिमा तक जघन्य श्रावक पद है। सप्तम प्रतिमासे नौवी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक पद है। और दशवी ग्यारहवी प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक पद कहे जाते हैं।

प्रश्न—क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव सयतासयत भावको प्राप्त होता है या नहीं?

उत्तर—सयतासयत गुणस्थान म क्षायक सम्यग्दृष्टी

जीव सबसे कम है, क्योंकि अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का होना अत्यन्त दुर्लभ है तथा तिर्यंचों में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम भाव पाया नहीं जाता है, क्योंकि तिर्यंचों में दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा का अभाव है। (ध ५-२५६)

प्रश्न—संज्ञी सम्मूर्छन पर्याप्तकोंमें संयमासंयम के समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्व होता है या नहीं ?

उत्तर—संज्ञी सम्मूर्छन पर्याप्तकों में संयमासंयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी संभावनाका अभाव है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि संज्ञी सम्मूर्छन पर्याप्तक जीवोंमें अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्व का अभाव है ?

समाधान—पंचेन्द्रियोंमें दर्शन मोहका उपशम करता हुआ गर्भोत्पन्न जीवों में ही उपशमन करता है, सम्मूर्छनों में नहीं, इस प्रकार के चूलिका सूत्र से जाना जाता है।

शंका—संज्ञी सम्मूर्छन जीवों में अवधिज्ञानका अभाव कैसे जाना जाता है ?

समाधान—किसी भी आचार्य ने संज्ञी जीवोंमें [illegible] होता है ऐसी प्ररूपणा (

प्रश्न—[illegible] [illegible] [illegible] संयतासंयत [illegible]
को प्राप्त हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—[illegible] [illegible] [illegible] महर्षियों [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मनुष्य [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] पर्याप्तक [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आयु [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] हुआ (१) [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के (२) [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] कोई काल [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] और देवों में उत्पन्न [illegible]
[illegible] है। ([illegible] ३६६)

[illegible]—[illegible] [illegible] पहले तिर्यंचायुका [illegible]
[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] ग्रहण करके और [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] तिर्यंचों में उत्पन्न होते हुए [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] क्षायिक सम्यग्दृष्टि [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] सकते हैं ?

[illegible]! क्योंकि जिन्होंने पहले तिर्यंचायु [illegible]
[illegible] है [illegible] तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए क्षायिक [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] उत्पन्न हुए
[illegible] [illegible]

ही होती है ऐसा आगम वचन है। (ध ३-४७५)

प्रश्न—सगतासगतोंके वैक्रयिक समुद्घात होता है?

उत्तर—सगतासगतोंके वैक्रयिक समुद्घात होता है क्योंकि विष्णुकुमार आदिमें विक्रियात्मक औदारिक शरीर देखा जाता है। (ध ४-४४)

प्रश्न—मानुषोत्तर पर्वतसे परभागवर्ती और स्वयंप्रभाचल से पूर्वभागवर्ती शेष द्वीप समुद्रोंमें सगतासगत जीव हो सकता है या नहीं?

उत्तर—हो सकता है। क्योंकि पूर्वभवके वैरी देवोंके द्वारा वहा लेजाये गये तिर्यंच सयतासयतकी सम्भावना हो सकती है, इसमें कोइ विरोध नहीं है। (ध ४-१६६)

प्रश्न—स ्तास ात सम्यग्दृष्टि को बन्ध का कितना प्रत्यय जघन्य व उत्कृष्ट है?

उत्तर—एकेंद्रियसे एक कायकी विराधना करता है ऐसे दो असयम भाव—आठ कषायोंमें दो कषाय, तीनवेदोंम एक वेद, हास्य रति और शोक अरति इन दो युगलोंमें से एक युगल, नोयोगोंम से एक योग, इस प्रकार ८ जघन्य प्रत्यय है। और उत्कृष्ट एकेंद्रिय से पाच स्थावरकायोंकी विराधना करता है, इस प्रकार छह असयम, दो कषाय प्रत्यय, एक वेद, हास्य रति और अरति शोक दे- युगलोंमसे , भय और ... नव।

एक योग, एसे मिलकर चौदह प्रत्यय होते हैं।

(ध ८-२६

प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान

छट्ठ गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक उदीरणा होती और सातवें गुणस्थानम ध्यान अवस्था है इस गुणस्थान अनतानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय अभाव रूपतो सामायिक सयम है और जितने अ श रागादिक परणति है वेह छेदोपस्थाना सयम है। उ मुनि ध्यान म स्थिर नही रहते तब २८ अठाईस मू गुणोके विकल्प मे स्थिर रहते हैं। अठाईस मूलगुण पालन करने का भाव है वह छेदोपस्थापना सयम है राज्वलनके तीव्र कषाय म ही आहारादिकी क्रिया हो है। छठ गुणस्थानवाले मुनि महाराज जितेन्द्रिय होते है वे पाचइन्द्रिय और पाच इन्द्रिय क विषय के आध नही हैं परन्तु इनको मुनिमहाराज ने जीत लिया है। जि मुनिका सासारिक बातोंम दिल लगता है उस मुनिने क इन्द्रियको जीता नही है, जिस मुनिक भौतिक वस्तु देख का भाव है उस मुनिने चक्षु इन्द्रियको जीता नही है। जि बस्ती म मुनि ठहर हैं और धूपके दिन म उसम हवा न आती है। एसी हालत म यदि ...

स्पर्शइन्द्रियको जीता नहीं। छहों आवश्यक कर्म मुनि महाराजको नियमितरूपसे दिनमें दो दफे करना ही चाहिये उसमें प्रमाद का सेवन करे तो वह मुनि नहीं है। विहार में बातें करते करते चले और भूमि पर दृष्टि नहीं है तो मुनि ने ईर्या समितिका यथार्थ पालन नहीं किया। मेरे द्वारा जीवोंका घात न हो जाय ऐसे भाव सहित चार हाथ प्रमाण भूमि शोध कर चलना, यही ईर्या समिति है, यह पुण्यभाव है। वर्षाऋतु में सब जगह पर हरितकायिक जीव पैदा होगये हैं वहां दीर्घशंकाके लिये जाऊँगा तो हरितकायिक जीवोंका नाश होजावेगा यह सोचकर मुनि अपने डेरमें शौचादि क्रिया करे तो वह मुनि नहीं है। शूद्रक हाथका जल पीनेवाले के हाथसे मैं आहार नहीं लेऊँगा ऐसा कहनेवाले मुनिको अव्रत अवस्थाका ज्ञान नहीं है। जहां अव्रत अवस्था का ज्ञान नहीं है वहां मुनि अवस्थाका ज्ञान कैसे हो सकता है? मुनि पदमें जंत्र मंत्र डोरा धागा आदि बनाने का भाव होता ही नहीं है। यदि ऐसा भाव मुनि महाराजमें हो जावे तो वह मुनि नहीं है। जैसे श्रावक अष्ट मूल गुणों में से एक मूलगुणको न पालन करने से श्रावक नहीं कहा जाता, ऐसे मुनि महाराज भी २८ मूलगुणोंमसे एक मूल गुणको नहीं पालन करनेसे [illegible] नहीं [illegible] संयम का लक्षण निम्नप्रकार है।

की रक्षाका है परन्तु एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीव मारने का नहीं है। मात्र जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा का पालन करना है। इसलिये एकेन्द्रिय आदि जीवोंके घात होते हुए मुनि को पापका बन्ध नहीं है। जैसे एक श्रावक की गाय के गले म घाव हो जाने से उसमें कीडा पड गया है। श्रावक जाता है कि गाय के गले म दवा डालने से कीडा मर जायगा परन्तु श्रावकका भाव कीडा मारनेका नहीं है परन्तु गायकी रक्षा का भाव है, इसलिये गायके गले म दवा डालने से कीडा मरते हुए श्रावकको पुण्यका ही आश्रव होता है। इस प्रकार मुनि महाराज का अभिप्राय त्रस जीवों की रक्षा का है। जङ्गल म शौच जाने से टट्टी म त्रस जीव उत्पन्न होनेका कारण नहीं होता क्योंकि जगलम शौच जाने से टट्टी सूख जावगी अथवा कोइ तिर्यंच जीव इसको खा जावगा जिससे उसम त्रस जीवों की उत्पत्ति का कारण नहा है, इस अभिप्राय से जानेसे वनस्पतिकायिक जीवोंका घात होते हुए मुनिको पापका बन्ध नहीं है। मुनि जो जगलम जाते हैं व भी ईर्या समिति से ही गमन करते हैं। जहा प्रमाद है वहा ही हिंसा है। इसलिये टट्टी घर म जानेवाले मुनि तथा मुनि पर्यायका जिसको ज्ञान नहीं है ऐसा टट्टी घर बनदेनेवाले श्रावक दोनों ही मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि जीव मरो या

मत मरो बध का कारण मात्र अभिप्राय ही है, इसका ज्ञान नहीं है, कहा भी है कि—

अज्भवसिदेण बन्धो सत्ते मारेउ मा व मारउ।
एसो बधसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥
—समयसार

अर्थ–निश्चयनय का यह पक्ष है कि जीवों को मारो अथवा मत मारो यह जीवों के कर्म बन्ध अध्यवसायकर ही होता है। यह बधका सक्षेप है।

यदि वनस्पतिकायिक जीवों की रक्षा के लिये टट्टीपर ननवा दिया जावे तो भी वनस्पतिकायिक जीवों की आयु घट नहीं जावगी। वर्षा (पानी) गिरने से नम न म दो घडी म त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है तब भोजन के लिये भी ऐसे पानी कीचड के ऊपर से मुनिके जाने से वहा भी त्रस जीवों की हिसा हो रही है। एसी अवस्था म मुनि क डरे मे ही भोजन पहुँचाना चाहिये, परतु यह मार्ग नहीं है। काद म त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है यह मुनि आगमद्वारा जानता है तो भी मुनिका अभिप्राय त्रस जीव मारने का नहीं है, परतु उद्दिष्ट आहार नहीं लेने का अभिप्राय है। इसलिए मुनिको पाप का बध नहीं है। क्रिया से कर्म बन्ध नहा होता है कर्म बन्धका कारण अभिप्राय ही है जैसे—

एक मुनि महाराज ध्यान अवस्था में जंगल में बैठे हैं। उस समय एक जंगल का सिंह मुनि महाराज की शान्त मुद्रा देखकर मुनि के नजदीक में बैठ गया। इसी समय एक बाघ आगया। उसने मुनिको देखकर मुनिको खानेके भाव कर मुनि के ऊपर छलांग मारी, तुरन्त वही सिंह बाघ के सामने हो गया और कहा कि हे दुष्ट! मेरे में जान है तब तक तू मुनि को नहीं खासकता है। दोनों आपसमें लड़ने लगे। लड़ते२ दोनो ही मर गये। सिंह मरके स्वर्ग को गया, क्योंकि उसका अभिप्राय मुनि की रक्षा का था। बाघ मरके नरकमें गया, क्योंकि उसका अभिप्राय मुनिकी हिंसा करने का था। यद्यपि क्रिया दोनों में समान हुई तो भी अलग २ भावो से दोनो अलग २ गति में गये। इसलिये मुनि महाराज टट्टीघर में शौच जावें तो वे मुनि नहीं हैं एवं मुनिके लिए टट्टीघर बना देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

जो श्रावक ऐसा अभिप्राय करे कि शीत बहुत पड़ रहा है मुनि भी मनुष्य हैं। अपनेको शीत लगती है इस प्रकार मुनिको भी शीत से दुःख होता है यह सोचकर मुनि को ओढ़ने के लिये वह श्रावक घास, पराल आदि दे और शीत से बचने के अभिप्राय से मुनि इसे स्वीकार करें तो वे दोनों जीव मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि श्रावक ने मुनि

पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं है। यदि शीत का परीपह सहन करने की शक्ति न थी तो मुनि क्यों हुआ? श्रावक अवस्था में ही रह कर धर्म की साधना करता, परन्तु उच्च पद का नाम धारी नीची क्रिया करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसे मुनि को द्रव्यलिंगी मुनि भी नहीं कहा जाता है, वह तो मात्र वेषधारी है। द्रव्यलिंगी मुनि का शास्त्रों में वर्णन है वह भी यथार्थ में अट्ठाइस मूलगुणोंका पालन करता है। बाईसपरीषहका यथार्थ विजयी होता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच द्वारा आये उपसर्गको समता भावसे सहन करता है परन्तु अभ्यंतर सूक्ष्म मिथ्यात्वका भाव रह जाने से उसे द्रव्य लिंगी कहा है। जो टट्टीघर में शौच जावे और शीतकालमें एक बैलगाड़ी जितना घास ओढ़े वह तो मात्र दिगम्बर अवस्थामें वेषधारी है। ऐसे मुनिका तो यहां वर्णन भी नहीं है। यहां तो भावलिंगी मुनिकी बात है, उस मुनिके प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान होता है।

जिस दातारने मुनि महाराजको ठहरनेके लिये ग्रामके बाहर वस्ती अर्थात् घर-मकान बगीची आदिका दान दिया है अर्थात् एक [illegible] ठहरनेकी आज्ञा दी है, [illegible]
मुनि [illegible] लेने का आगम [illegible]
है। [illegible] के घर [illegible] से
दान का [illegible], दातार [illegible] जाता

राग बढ़ने से मुनि महाराज स्वतः अपने पद से गिर जाते हैं। इस कारण आगमम निषेध किया है। परन्तु वर्तमान में यह बात विशेष रूप से मुनि महाराजों में देखने में नहीं आती, क्योंकि मुनि महाराजको आगम ज्ञान नहीं है, वहां आत्म ज्ञान कैसे हो सकता है। और जहां आत्म-ज्ञान नहीं है वहां मुनिपना अर्थात् संयमपना कैसे रह सकता है? जिन जीवोंकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है। वहां संयम नहीं है ऐसा आगम भी कहता है।

जो मुनि महाराज बाईस परीषह का पालन उत्कृष्ट रीति से कर नहीं सकता है, जो देव, मनुष्य एवं तिर्यंच द्वारा आये हुए उपसर्गको उत्कृष्टपनेसे सहन करनेके लिए शक्तिशाली नहीं है ऐसे मुनि महाराजको अपने पदसे उत्तम पदधारी आचार्योंके संघमें ही रहना चाहिये, एकल विहारी रहने की आज्ञा नहीं है। एकलविहारी रहने से नियम से वह अपने पदसे गिर जायगा। स्वच्छाचारी संयमका पालन नहीं कर सकता है। जहां स्वच्छाचार है वहां मुनिपना भी नहीं है। अपने पद की रक्षा के लिये अपने पदसे उत्तम पदके धारी अथवा अपने पद के धारी सपतो के साथ मुनि महाराज को रहना चाहिये किन्तु अपने पद से हीन पदके धारी का संग करने से मुनि अपने पदसे नियम से भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार

मोक्षमार्गी जीवों को उत्तम संग तथा आचरण रखना चाहिये।

जिन मुनि महाराजको गणधर देव, पंच परमेष्ठी की भक्ति में नमस्कार करते हैं वह मुनि पद कैसा होता है। सो विचारना चाहिये। क्या वह वपधारी मुनिजों को वंदन करता है? गणधर देव महान् ऋद्धिरोंके धारी एवं चार ज्ञानके धारी होते हैं। मुनि पर्यायमें कैसी क्रिया हैं व अच्छी तरह से जानते हैं। व जानते हैं कि स्वात्मज्ञानके धारी मुनिराज, यदि दो घडी ध्यानावस्था में स्थिर रह जायें, तो केवल ज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। गणधर देवके आगे उनका आत्मग्राही बना हुआ शिष्य प्रथम केवल ज्ञान एवं मोक्षपद की प्राप्ति कर सकता है। यह शक्ति देखकर गणधर देवभी मुनि महाराजको नमस्कार करते हैं। गणधर देवको निम्न प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

ऋद्धियां सात प्रकार की कही गई हैं। बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण। इनमें से गणधर देवों के चार निर्मल बुद्धियाँ रखी जाती हैं। गणधर देवों के चार बुद्धि होती हैं, क्योंकि उनके बिना बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आता है।

शंका—बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग कैसे है?

समाधान—गणधर देवम कोष्ठी बुद्धिका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि एसा होने पर अवस्थान के बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के विनाशका प्रसग आवेगा। बीज बुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि, उसके बिना गणधर देवो को तीर्थंकर से मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बहुत लिगालिगका बीज पदोंकाज्ञान न होने से द्वादशाग के अभावका प्रसग आवेगा। बीज पदो के स्वरूपको जानना बीज बुद्धि है, इससे द्वादशागकी उत्पत्ति होती है। उस बीज बुद्धि के बिना द्वादशाग की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि एसा होने म अति प्रसग आता है। उनम पदानुसारी ज्ञानका अभाव नहीं है। क्योंकि बीज बुद्धिसे जाना गया है स्वरूप जिसका तथा कोष्ठ बुद्धि से प्राप्त हुआ है अवस्थान, जिसने एसे बीज पदो से ईहा और अवायके बिना बीज पदकी उभय दिशा विषयक श्रुत ज्ञान तथा अक्षर पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति बन नहीं सकती। उनम सभिन्न श्रोतत्वका अभाव नहीं है। क्योंकि उसके बिना अक्षर–अनक्षरात्मक सातसौ लघुभाषा और अठारह महा भाषा स्वरूप नाना भेदो से भिन्न बीजपद रूप व प्रत्येक क्षण म भिन्न २ स्वरूपको प्राप्त होनेवाली ऐसी दि यध्वनिका ग्रहण न होने से द्वादशाग की उत्पत्ति के अभावका प्रसग आवेगा। भले प्रकार श्रोत्रेन्द्रियावरण

के चयोपशमसे जो भिन्न अनुविद्ध अर्थात् सम्बन्ध है, वे सभिन्न हैं ऐसे जो श्रोता हैं। वे सभिन्न श्रोता हैं। कथंचित् युगपत् प्रवृत हुए अक्षर-अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों के श्रोता सभिन श्रोता हैं ऐसा निदेश किया गया है। (ध ६-५८)

नरनागसहस्राणि नाग नागे शत रथा।
रथे रथे शत तुर्गा तुर्गे तुगे शत नरा ॥ १६ ॥

अर्थ—एक अचौहिणी म नौ हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित सौ रथ, एक एक रथक आश्रित सौ घोडे और एक एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। (ध ६-६१)

यह एक अचौहिणीका प्रमाण है। ऐसी चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी २ भाषाओं से युगपत बोले तो भी सभिन्न श्रोता युगपत् सब भाषाओं का ग्रहण करके उत्तर देता है। इनसे संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकरके मुख से निकली ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे सभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

शंका—यह सभिन्न बुद्धि कहां से होती है ?

समाधान—बहु, बहुविध और चिप्र ज्ञानावरणीय कर्म के चयोपशम से होती है।

शंका—बीज बुद्धि कहाँ से होती है।

समाधान—वह विशिष्ट अवग्रहावरणीयके क्षयोपशम से होती है।

प्रश्न—विक्रिया ऋद्धि कितने प्रकार की है और इन के क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की है। १ अणिमा २ महिमा, ३ लघिमा, ४ प्राप्ति, ५ प्राकाम्य, ६ ईशित्व, ७ वशित्व ८ कामरुपित्व।

अणिमा—महा परिमाण युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमा नामक विक्रिया ऋद्धि है।

महिमा—परमाणु मात्र शरीर को मेरु पर्वत सदृश कर सकने को महिमा विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

लघिमा—मेरु प्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओंपर से चलने में निमित्तभूत शक्ति को लघिमा विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

प्राप्ति—भूमि में स्थित रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति को प्राप्ति विक्रियऋद्धि कहते हैं।

प्राकाम्य—कुलाचल और मेरु पर्वत पृथ्वी कायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमन शक्ति को प्राकाम्य विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

ईशित्व—सब जीवों, तथा ग्राम, नगर एवं खेड आदिकों के भोगने की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व विक्रिय ऋद्धि कही जाती है।

वशित्व—मनुष्य, हाथी, सिंह एव घोड़े आदिका रूप अपनी इच्छा अनुसार करने की शक्तिका नाम वशित्व विक्रिय ऋद्धि है।

कामरूपित्व—इच्छित रूप के ग्रहण करने का नाम काम रूपित्व ऋद्धि है। (ध ९-७५)

जीव पीडा के बिना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाश चारण मुनि कहे जाते हैं। पल्यकासन कायोत्सर्गासन, शयनासन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश मे गमन करने में समर्थ ऋषि आकाश-गामी कहे जाते हैं। (ध ९ ८२)

शंका—आकाशचारण ऋद्धि और आकाशगामीऋद्धि में क्या भेद है ?

समाधान—चरण, चारित्र, संयम व पाप क्रिया निरोध इनका एक ही अर्थ है इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है वह चारण कहलाता है। तप विशेषसे उत्पन्न हुई आकाश स्थित जीवोंके (वधके) परिहारकी कुशलतासे जो सहित है वह आकाश चारण है। आकाशमें गमन करने मात्रसे संयुक्त [illegible] कहलाते हैं। सामान्य

की अपचा जीवोंके वध परिहारकी कुशलतासे विशेषित आकाश गामित्वम विशेषता पाई जानेसे दोनोंम भेद है। (ध ६-८४)

प्रश्न-खेलौषधि ऋद्धिका क्या स्वरूप है ?

उत्तर-श्लेश्म, लार, सिंहाण अर्थात् नासिका मल और विप्रुष आदिकी खेल सज्ञा है, जिनका यह खेल औषधिको प्राप्त हो गया है वह खेलौषद्धि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहे जाते हैं। (ध ६-६६)

प्रश्न-विट्‌औषधि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर-विष्ठा, शब्द, चूकि देशामर्शक है। अतएव उससे मल-मूत्र जिनका औषधिको प्राप्त हो गया है विट्‌औ-षधि प्राप्त ऋद्धि का धारक है। (ध ६-६७)

प्रश्न सयतो की उत्कृष्ट सख्या एक सायम कितनी होती है ?

उत्तर-सयतो की सख्याकी दो मान्यता है वह निम्न प्रकार है।

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य सजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदा पमत्तरासी पमत्ता दु ॥५१॥

अर्थ -जिस सख्याक आदिम सात है, अतम आठ है और मध्यम छ बार नौ है, उतन अर्थात्-आठ कोड़ निन्यानवें लाख, निन्यानवें हजार नौसो सत्तानवें

अनिवृत्तिकरण के काल में संख्यात भाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियजाति (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय), नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत स्थावर, सूक्ष्म, और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियोंको एकसाथ क्षय करता है। यह सतकर्म प्राभृतका उपदेश है। किन्तु कषाय प्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि, पहले आठ कषायोंका क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें सोलह कर्म प्रकृतियोंका क्षय होता है। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कहना घटित नहीं होता है। क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रों से विरुद्ध पड़ता है। तथा दोनों वचन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक प्रमाण को दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये यह न्याय है। (ध १–२१७)

प्रश्न—क्षपक श्रेणीमें बंध द्रव्य से उदय और संक्रमण द्रव्यकी संख्या कितनी है ?

उत्तर—बंधसे उदय अधिक है, और उदयसे संक्रमण अधिक होता है। इनकी अधिकता प्रदेशाग्रसे

असख्यातगुणित श्रेणी का [illegible] बधसे उदय द्रव्य असख्यात [illegible] सक्रमण द्रव्य असख्यात [illegible]

प्रश्न—क्षपक श्रेणी में [illegible]

उत्तर—स्त्रीवेद और नपुंसक [illegible] पुरुषवेद और हास्यादि [illegible] को सज्वलन क्रोधमे [illegible]

उपशम श्रेणी वाला [illegible] है और क्षपक श्रेणी वाला [illegible] दशम गुणस्थान मे जाता है।

प्रश्न—अनिवृत्ति[illegible] मे उत्कृष्ट प्रत्यय कितना है?

उत्तर—अनिवृत्ति[illegible] कषाय, एक योग [illegible] वेदके साथ २ तीन [illegible]

सूक्ष्म[illegible]

इस गुणस्थानमे [illegible] नीयका नव पाइनकी [illegible] है परन्तु [illegible] कर्म का बन्ध पड़ता है। [illegible]

को उपशमाकर ग्यारहवें गुणस्थानमें जाता है, और क्षपक श्रेणी वाला सूक्ष्म लोभ का नाश कर सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में लोभ कषाय एक तथा योग एक इसी प्रकार जघन्य व उत्कृष्ट बन्ध का प्रत्यय है। (ध ८-२७)

उपशांतमोह गुणस्थान

इस गुणस्थान में वीतराग दशाको प्राप्त होता है परन्तु यहाँ से नियमसे गिर जाता है।

शंका—अवस्थित परिणाम वाला उपशान्त कषाय वीतराग मोह में कैसे गिरता है।

समाधान—स्वभावसे गिरता है। अर्थात् पारिणामिक भाव से गिरता है।

उपशान्त कषायका प्रतिपात दो प्रकारका है। १ भवक्षय निबन्धन और २ उपशमन काल क्षय निबन्धन। इनमें भवक्षय से प्रतिपात को प्राप्त हुए जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही बन्ध उदीरणा संक्रमणादि रूप सब करण निज स्वरूप प्रवृत्त हो जाते हैं। जो कर्म उदीरणा को प्राप्त हैं वे उदीयावली में प्रवेशित हैं, जो उदीरणाको प्राप्त नहीं हैं वे भी अपकर्षण करके उदयावली के बाहर गोपुच्छाकार श्रेणी रूपसे निक्षिप्त होते हैं। (ध ६-३१७)

प्रश्न—उपशान्त मोहसे गिरनेवाला जीव सासादन

गुणस्थान को प्राप्त होता है या नहीं ?

उत्तर–द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालके भीतर असयम को भी प्राप्त हो सकता है, सयमासयमको भी प्राप्त होसकता है, और छह आवली शेष रहने पर सासादन को भी प्राप्त हो सकता है। परन्तु सासादन को प्राप्त होकर यदि मरता है तो नरक गति, तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता है, नियम से ही देवगति को प्राप्त करता है। यह कषाय प्राभृत चूर्णसूत्र (यतिवृषभाचार्यकृत) का अभिप्राय है, किन्तु भगवान भूतबली क मत अनुसार उपशम श्रेणी से उतरता हुआ सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं करता है। निश्चयत नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन तीन आयुम से पूर्व म बाधी गई एक भी आयु से कषायोंक उपशमन क लिये समर्थ नहीं होता। इस कारण से नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति को प्राप्त नही करता है। (ध ६ ३३१)

इस गुणस्थान म योग का एक प्रत्यय बन्ध का है।

क्षीणमोह गुणस्थान

इस गुणस्थान म आत्मा सपूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त होता है। उपशमक की विशुद्धि से क्षपक की विशुद्धिया अनतगुणी हैं। अतएव आत्मा यहा अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितिकर नियमसे तेरहवें गुणस्थानमें जाता है। इस गुण-

रूप होनेवाली ऐसी केवली की ध्वनि सपूर्ण भाषा रूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शका—जबकि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है?

समाधान—क्योंकि केवलीके वचन इसी भाषा रूप ही है ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शका—केवली परमात्मा कवलाहार लेते है या नहीं?

समाधान—केवली कवलाहार लेते ही नहीं, क्योंकि छट्ठे गुणस्थानक बाद आहार सज्ञा ही नहीं है, तब आहार सज्ञाकी उदीरणा कैसे कर सकता है? जैसे नवें गुणस्थान तक मैथुन सज्ञा है जब मैथुन की उदीरणा पाँचवें गुणस्थानकी ब्रह्मचर्य प्रतिमा में ही नहीं होती है, तब नवें गुणस्थान बाद अब्रह्म मानना न्याययुक्त नहीं। ऐसे आहार सज्ञाका जहाँ अभाव है वहा आहार की उदीरणा मानना न्याय सगत नहीं है।

केवली परमात्माको केवलज्ञान है। वह लोकालोक देखते हैं वह पचेन्द्रियके मृतक शरीर को भी देखते हैं, ऐसी हालतमें वह अतरायका पालन कर खाया नहीं करेगा? यह सब विचारनेसे मालुम होगा कि केवली कवलाहारी नहीं हैं। आहार भूखके दुख

म ही लिया जाता है। जब अनन्त सुखके धनी को भी भूखका दु ख रह गया तो अनत सुखके धनी कहाँ रहगे ?

शका—केवलीके ११ परीपह कही है, वह कैसे कहा होगा ?

समाधान—परीपह २२ कही गई हैं। क्षुधा, तृपा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निपद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन सबके सहन करने के भावका नाम परीपह जय है। यह सभी भाव चारित्र गुणकी पुण्यरूप अवस्था का नाम है। इनम कौनर से कर्मके उदयसे होती हैं, उसी अपेक्षासे तत्त्वार्थ सूत्रके नवम अध्यायम लिखा है कि—

"ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥ चारित्रमोह नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कार ॥१५॥ वेदनीये शेषा ॥१६॥

यथार्थ म परीपह जीतना प्रशस्त रागकी पर्याय है उसम निमित्त कौनसे कर्म का है यह मात्र दिखाने के लिए कहा गया है कि केवलीके वेदनीय कर्मका सद्भाव होनेके कारणकी अपेक्षासे "एकादशजिने ॥११॥" सूत्र कहा है परन्तु जहा राग ही नहीं रहा वहा कारण क्या करगा ?

आचार्य द्रव्येन्द्रियकी पूर्णताकी अपेक्षा दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका एसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सयोगी जिनके भावेन्द्रिया नहीं पाइ जाती है । पाचों इन्द्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमको भावेन्द्रिय कहते हैं। परन्तु जिनका आवरण कर्म समूल नष्ट हो गया है उनके वह क्षयोपशम नहीं होता है । और यदि प्राणो म द्रव्येन्द्रियकाही ग्रहण किया जावे तो सभी जीवों के अपर्याप्त कालमे सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण रह जायेंगे क्योंकि उनके द्रव्येन्द्रियोंका अभाव होता है । अत यह सिद्ध हुआ कि सयोगी जिनके चार अथवा दो प्राण होते हैं। (ध २-४४४)

केवली जिनके पाचइन्द्रियाँ और मनोबलको छोडकर शेष चार प्राण होते हैं । तथा योग निरोध के समय वचनबलका अभाव हो जाने पर कायबल, आनापान, और आयु ये तीन प्राण होते हैं । और तेरहवें गुणस्थानके अन्त मे कायबल और आयु ये दो प्राण होते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान के पहले समय मे मात्र आयु प्राण है वहा काय बलका भी अभाव हो जाता है । (ध ४-४१६)

शका—जिसका आरभ किया हुआ शरीर अपूर्ण है उसे अपर्याप्त कहते हैं। परन्तु केवली की सयोगी अवस्था मे शरीर का आरभ तो होता नहीं अत सयोगीकेवली के

यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिसे आयु-कर्मकी स्थितिकी असमानता ही समुद्घात का कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षीण मोह गुणस्थान की चरम अवस्था म सपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं इसलिये सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसग आ जायगा ?

समाधान—यतिवृषभाचार्य के मतानुसार क्षीण कषाय गुणस्थानके चरम समय म सपूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्योंके मत अनुसार लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले केवलियों की बीस सख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं, और कितने नहीं करते हैं।

शका—कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान—जिनकी ससार व्यक्ति अर्थात् ससारमे रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली करते हैं।

शका—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर ससार व्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थितिमे विषमता क्यों रहती है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि ससार की व्यक्ति और कर्म स्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तरूप परिणामों के

समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मकी स्थिति के समान मान लेनेमें विरोध आता है। कहा है कि

छम्मासा उवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं ।
सन्मुग्घायो सिज्झई सेसा भज्जा समुग्घाए ॥

शंका—छह मास प्रमाण आयु कर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है, शेष जीव समुद्घात करते भी हैं, और नहीं भी करते हैं। (घ १–३०३)

प्रश्न—आत्मा मुक्ति अपने परिणामोंसे पाता है कि वज्रवृषभनाराच संहननकी मदद से जाता है ?

उत्तर—आत्मा अपने परिणामोंको निर्मल करके ही मोक्ष पाता है। वज्रवृषभनाराच संहनन कुछ मदद करता नहीं है, क्योंकि पुद्गल अर्थात् जड़ पदार्थ आत्मा को क्या मदद करेंगे ? जैसे क्रोध करने से आँख आपस आप लाल हो जाती है, परन्तु शान्त परिणामों में आँख लाल बन नहीं सकती, ऐसे ही बारहवा गुणस्थान रूप भाव हुआ कि तुरत सप्त धातु मय शरीर आपसे आप परम औदारिक बन जाता है, एवं परिणाम निर्मल करने से पूर्व अवस्था में जो सप्तधातु रूप औदारिक शरीर में त्रसरूप निगोद राशि थी वह आपसे आप विलयको प्राप्त हो जाती है एवं [illegible] गुणस्थानके अंत में योगका अभाव

से वज्र की हड्डी और वज्र की कील आप से आप विलय होती है इसी प्रकार परिणाम निर्मल करने से संहनन आप से आप बदल जाते हैं। वज्रवृषभनाराच संहनन की राह देखनी नहीं पड़ती। जो जीव निगोद में से सीधा मनुष्य पर्याय में आया है उस जीवके जन्मसे वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं था परन्तु परिणाम निर्मल करते ही वही शरीर आपसे आप वज्रवृषभनाराच रूप हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि मुक्ति अपने परिणामोंको निर्मल करनेसे ही होती है दूसरा मार्ग नहीं है।

प्रश्न—सयोग केवलियों के कौनसे कर्मका उदय रहता है?

उत्तर—तीथङ्करों के उदय में ३१ प्रकृतियोंका उदय पाया जाता है। मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिक, तैजस, और कार्माण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक-शरीरअंगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर यह इकतीस प्रकृतियां तीर्थंकर के उदयमें आती हैं।

सयोग केवली जिनको बंधके योगका मात्र एक

प्रत्यय है ।

अयोग केवली गुणस्थान

अयोगी जिनको मात्र एक आयु प्राण है । शरीर और श्वासोच्छ्वास प्राणका तेरहवें के अन्त मे अर्थात् चौदहवें गुणस्थानके उत्पाद म ही नाश हो जाता है । वज्रऋषभनाराच सहनन का भी चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय म अभाव हो जाता है ।

अयोगी जिनके छह पर्याप्ति होती हैं । छहों पर्याप्ति होनेका यह कारण है कि पूर्व से आई हुई पर्याप्तियाँ तदैव स्थित रहती है, इसलिये उपचार से छहो पर्याप्ति कही हैं किन्तु यहा पर पर्याप्ति जनित कोइ कार्य नहीं होता है, अत आयु नामक एक ही प्राण होता है ।

शका—एक आयु प्राणके होनेका क्या कारण है?

समाधान—ज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप पाच इन्द्रिय प्राण तो अयोग केवलीके है नहा, क्योकि ज्ञानावरण कर्मका क्षय होजाने पर क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है । इसी प्रकार आनपान, भाषा और मन प्राण भी उनक नहीं है क्योंकि पर्याप्ति जनित प्राण सज्ञा वाली शक्तिका उनके अभाव है । उसी प्रकार उनक नामका [illegible] नही है, क्योंकि उनके अयोग्य क [illegible] ९१ जनित कर्म और नोकर्म

मनका कारण जो शरीर इसका अभाव है, इसलिये अयोग केवली के एक आयु प्राण ही होता है ऐसा समझना चाहिये। (ध २-४४६)

प्रश्न—अयोगीजिन आहारक हैं या अनाहारक हैं?

उत्तर—चौदहवें गुणस्थान में शरीर निष्पादन के लिये आनेवाली नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं के अभाव हो जानेसे अयोगी जिन अनाहारक हैं। (ध २-८५४)

प्रश्न—अयोगी जिनके कौनसी कर्म प्रकृतियों का उदय है?

उत्तर—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, और तीर्थङ्कर, यह ना प्रकृतियों का ही उदय होता है।

सयोगी जिन किसी भी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। इसके पीछे विहार करके और क्रमशः योग निरोध करके वे अयोग केवली होते हैं। वे भी अपने कालके द्वीचरम समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं। इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समय में दोनों वेदनीय में से उदयगत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, शुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर और उच्चगोत्र तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अथवा मनुष्यगति

प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोग केवली के द्विचरम समय म ७३ तेहत्तर प्रकृतियों का और चरम समय म १२ बारह प्रकृतियोंका क्षयकर उसी समय म ससारका व्यय और सिद्ध पदकी उत्पत्ति होती है। (ध १-२२३)
इति भेदज्ञान शास्त्र मध्य गुणस्थान अधिकार समाप्त हुआ।

मार्गणा का स्वरूप

यह आत्मा अनादिकाल से चौरासीलाख योनिरूप, पौद्गलिक शरीर को अपना मान कर अपने स्वरूप को भूल गया है ऐसे भूले हुवे आत्माको अपने स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए मार्गणाकी उत्पत्ति हुई है। मार्गणा १४ चोदह प्रकार की होती है। १ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ सज्ञित्व और १४ आहार मार्गणा। इस प्रकार मार्गणा चौदह हैं।

गति मार्गणा—

गति चार होती है। १ मनुष्य गति, २ देवगति ३ तिर्यञ्च गति, ४ नरकगति। यह गति आत्मा नहीं है यह पौद्गलिक अवस्था है इनको आत्मा की मानना मिथ्यात्व है।

इन्द्रिय मार्गणा--

इन्द्रियाँ पाच होती हैं। १ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र यह पाचों ही इन्द्रिया पुद्गलकी रचना हैं। आत्मा इनको अपनी मानकर अनादि कालसे दुखी हो रहा है। क्योंकि इन्द्रियोंको अपनी मानने से जब यह इन्द्रिया खराब हो जावेंगी तब नियमसे आत्मा दुखी हो जायगा। म एकेन्द्रिय हूँ मै द्वीन्द्रिय हूँ, मै त्रीन्द्रिय हूँ, म चतुरिन्द्रिय हूँ और म पचेन्द्रिय हूँ, यह मानना मिथ्यात्व है। यथार्थ म विचाराजाय तो आत्मातो अतीन्द्रिय है, आत्मा म इन्द्रिया होती नहीं हैं। परन्तु सयोग सम्बन्धसे आत्मा मे इन्द्रिया हैं ऐसा मात्र बोला जाता है। जब आत्मा शरीर से चला जाता है तब सब इन्द्रिया शरीरमे रह जाती हैं, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिया आत्मा की नहीं हैं परन्तु पुद्गल की ही हैं।

शका—जिन जीवोंको दो इन्द्रिया पाई जाती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसा ग्रहण करने म क्या दोष है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपयुक्त अर्थ के ग्रहण करने म अपर्याप्त कालम विद्यमान जीवो के इन्द्रिया नहीं पाई जाने से उनके नहीं ग्रहण होने का प्रसग आता है।

शका—क्षयोपशमको इन्द्रिय कहते हैं द्रव्येन्द्रियको इन्द्रिय नहीं कहते हैं। इसलिये अपर्याप्त कालमें द्रव्येन्द्रिय

क नहीं रहने पर भी द्वीन्द्रियादि पदों के द्वारा उन जीवो का ग्रहण हो जायगा ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि यदि इन्द्रियका अर्थ चयोपशम किया जाय तो जिनका चयोपशम नष्ट होगया है, ऐसे सयोग केवलीके अनिन्द्रियपनेका प्रसग आ जाता है।

शका—आजाने दो !

समाधान—नहीं। क्योंकि सूत्र सयोग केवलीको पचेन्द्रियरूप से प्रतिपादन करता है। (ध ३-३११)

शका—सयोग केवली और अयोग केवलियोंके सपूर्ण इन्द्रिया नष्ट हो गई हैं, अतएव उनके पचेन्द्रिय यह सज्ञा कैसे घटित होती है ?

समाधान—नहीं ! क्योकि पचेन्द्रिय जाति नाम कर्म की अपेक्षासे सयोग केवली और अयोग केवली को पचेन्द्रिय सज्ञा बन जाती है। (ध ३-३१७)

काय मार्गणा—

काय छह होती हैं। १ पृथ्वी काय, २ अपकाय ३ तेज काय, ४ वायु काय, ५ वनस्पति काय, ६ त्रस काय यह छहों काय पुद्गलकी अवस्थाए हैं। इनको अ[illegible] मिथ्यात्व है। काय और आत्मा

है । कायक साथमे आत्माका तादात्म्य सबध नहीं है, परतु सयोग सम्बन्ध है । सयोगी चीजको अपनी मानना यह मिथ्यात्व भाव है । सयोगी वस्तुको सयोगी ही जानना सम्यक्त्व है । यद्यपि व्यवहार म बोला जाता है कि यह मेरा शरीर है, तो भी श्रद्धा तो यथार्थ ही ज्ञान कराती है।

पृथ्वी है काय अर्थात् शरीर जिनके उन्हें पृथ्वीकाय जीव कहते है एसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पृथ्वी कायका एसा अर्थ करने पर विग्रहगतिमे विद्यमान जीवोंक अकायिकत्वका अर्थात् पृथ्वीकायित्व का अभाव का प्रसग आता है ।

शका—तो फिर पृथ्वीकायिकका अर्थ कैसा करना चाहिये ?

समाधान—पृथ्वीकायिक नामकर्म के उदयसे युक्त जीवों को पृथ्वीकायिक कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिक का अर्थ करना चाहिये ।

शका—पृथ्वीकायिक नामकर्म कहीं भी अर्थात् कर्मों के भेदो म नहीं कहा गया है।

समाधान—नहीं, पृथ्वीकायिक नामका कर्म एकेन्द्रिय नाम कर्मके अन्तर्भूत है ।

शका—यदि ऐसा है तो प्रसिद्ध कर्मों की सख्या का नियम नहीं रह सकता है ?

समाधान—ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य कहते हैं कि—सूत्र में कर्म आठ ही अथवा उनकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों की संख्याको छोड़कर दूसरी संख्या का प्रतिषेध करनेवाला "एव" ऐसा पद सूत्रमें नहीं पाया जाता है।

शंका—तो फिर कर्म कितने हैं?

समाधान—लोकमें हाथी, घोड़ा, तोता, मयूर, मच्छली मगर, भ्रमर, चींटी, लट आदि रूपसे जितने कर्मोंका फल पाया जाता है, कर्म भी उतने ही होते हैं। (ध ३–३३०)

योग मार्गणा–

योग १५ पन्द्रह प्रकारका होता है। ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, ७ काययोग। इस प्रकार योग १५ पन्द्रह होते हैं।

मनोयोग चार–१ सत्यमन, २ असत्यमन, ३ उभय मन, ४ अनुभयमन।

वचनयोग चार—१ सत्यवचन, २ असत्य वचन, ३ उभयवचन, ४ अनुभयवचन।

काययोग सात—१ औदारिक काय, २ औदारिक मिश्र, ३ वैक्रियक काय, ४ वैक्रियक मिश्र काय, ५ आहारककाय काय, ६ अहारक मिश्र काय और ७ कार्माण का

५ ~ ~ वचन किसको कहते हैं?

उत्तर—तादात्म्य सम्बन्धसे कथन करना वह परमार्थ सत्यवचन है। जैसे आत्मा को आत्मा ही कहना, पुद्गलको पुद्गल ही कहना।

प्रश्न—अनुभय वचन किसको कहते हैं ?

उत्तर—सयोग सम्बन्धसे बोलना वह अनुभय वचन है। जैसे आत्माको मनुष्य, स्त्री, पुरुष, बैल, हाथी, देव, नारकी कहना यह अनुभय वचन है। वीतरागको पतित पावन कहना, करुणा के सागर कहना इत्यादि अनुभय वचन हैं। घी का घडा कहना, रोटी का तवा, जलका लोटा, दालकी बटलोई, हलवाकी कढ़ाई, चावलका डिब्बा गेहूं का बोरा, सुरजमार्का केशर आदि वचन अनुभय वचन हैं।

प्रश्न—मन योग का क्या स्वरूप है।

उत्तर—जैसे भगवान के रथकी बोली चुल रही है। एक मनुष्यने एकसौ एक रुपया बोली का बोला। तब एक धनी गृहस्थ सोचता है कि मैं एकसौ इक्यावन बोलदू परन्तु बोल सकता नहीं है। इतने में दूसरे गृहस्थने दो सौ एक रुपया बोल दिया। अब धनी सेठ विचारता है कि मैं दोसौ पिचेत्तर बोलदू, किन्तु लोभ के कारण बोल सकता नहीं है। इतने में तीसरे गृहस्थ ने तीनसौ एक रुपया बोल दिया। वही धनी सेठ सोचता है कि तीनसौ

पच्चीस बोलदू परन्तु लोभ कषाय छूटती नहीं है। [illegible] कारणसे बोल सकता नहीं हैं। ऐसे ही मनके [illegible] नाम मनोयोग है।

शंका—ऐसे मनोयोगसे पुण्यका बन्धतो [illegible] हुआ होगा ?

समाधान—नहीं ! मात्र मनयोगसे [illegible] होता है किन्तु पुण्य बन्धका कारण [illegible] आत्मा का परिणाम है। उस धनी सेठका [illegible] रूप परिणाम नहीं हुआ है। यदि मन्द[illegible] होता तो वह नियम से बोली म[illegible] बोलने म लोभ कषाय ही तो रोकती है [illegible] पुण्य का बन्ध नहीं पडता है।

शंका—ऐसा भाव करने से [illegible] फल मिलेगा ?

समाधान—मन्द कषाय [illegible] से नाम कर्म की शुभ प्रकृति [illegible] बढ जाता है, तथा पाप प्रकृति [illegible] जाता है जिसके फलन [illegible] परन्तु धन न मिले, [illegible]

शंका—[illegible]

[illegible] फल कहा है [illegible]

२ आठों कर्मोंके क्षीण हो जाने पर जो उर्द्धगमनोपलम्बी क्रिया होती है वह जीवका स्वाभाविक गुण है ऐसा धवलाकार कहते हैं परन्तु उर्द्धगमन आत्मा का स्वभाव नहीं है। गमन करना ही विकार है।

शंका—तब मुक्त आत्माने उर्द्धवगमन कैसे किया?

समाधान—जिसको आप उर्द्धवगमन कहते हो वह आत्मा की संसार अवस्था है। मुक्त अवस्था नहीं है जैसे—एक जीव मनुष्य पर्याय छोड़कर ऋजुगति से प्रथम स्वर्ग में देवगति में उत्पन्न हुआ, तब वहां व्यय पर्याय कब तक मानोगे और उत्पाद पर्याय कहां मानोगे? यह विचारना चाहिये? जब तक देव पर्याय उत्पन्न न हो तब तक व्यय पर्याय है। उसी प्रकार एक जीवने मनुष्य पर्याय का व्यय कर ऋजुगति से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति की तब सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति कहां से मानोगे? तब मालुम होता है कि जब तक सिद्ध पदकी उत्पत्ति न होवे तब तक व्यय पर्याय ही है। इससे सिद्ध हुवा कि मुक्त आत्माने गमन क्रिया ही नहीं।

३ धवलाकार लिखते हैं कि "अत: सक्रिय होते हुये भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होता है" यह कहना कहां तक सत्य है वह विचारना चाहिये। चौदहवें गुणस्थानके पहले समय में शरीर रहता ही नहीं है जिससे सयोगी जिन

अयोगी होता है। परन्तु शरीर सहित जीव को अयोगी मानना न्याय युक्त नहीं है। क्योंकि जहा कारण हो वहा कार्य जरूर होना ही चाहिये। परन्तु कारण का अभाव होने से कार्य का भी जरूर अभाव होता है। चौदहवें गुणस्थान म मात्र नौ प्रकृतियों का ही उदय है। १ मनुष्यगति, २ पचेन्द्रिय जाति ३ त्रस ४ बादर ५ पर्याप्त ६ शुभग ७ आदेय ८ यश कीर्ति ६ तीर्थंकर। जहा शरीर का उदय ही नहीं है तो उसका फल रूप शरीर कैसे रह सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीरी जीव अयोगी होत ही नहीं परन्तु अशरीरी ही जीव अयोगी होते हैं।

प्रश्न—ऋजुगति म कौनसा योग और आनुपूर्वी है?

उत्तर—ऋजुगति म तो कार्माण योग न होकर औदारिक मिश्र और वैक्रियक मिश्रकाय योग ही होते हैं। ऋजुगति से उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समय म ही विवक्षित क्षेत्र म उत्पत्ति हो जाने से सस्थान नाम कर्म का उदय हो जाता है। इसलिये आनुपूर्वी नहीं होती है। क्योंकि आनुपूर्वी और सस्थान नामकर्मों से उत्पन्न होने वाले आकार भिन्न है एकसे नहीं है। (ध ४–३०)

प्रश्न—मनोयोग, वचनयोग का जघन्य अन्तर का

उत्तर—मनोयोग वचनयोगका क्रमसे कम अन्तर काल अन्तर्मुहूर्त है।

शंका—मनोयोगी और वचनयोगी जीवोंका एक योग से दूसरे योगमें जाकर पुनः उसी योगमें लौटने पर एक समय प्रमाण अन्तर क्यों नहीं पाया जाता?

समाधान—नहीं पाया जाता। क्योंकि जब एक मनोयोग और वचनयोगका विघात हो जाता है, या विवक्षित योग वाले जीवका मरण हो जाता है तब केवल एक समय के अन्तर से पुनः अनन्तर समय में उसी मनोयोग या वचनयोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। (ध ७–२०५)

प्रश्न—काययोगी का जघन्य अन्तर कितना है?

उत्तर—काययोगी जीवोंका अन्तर क्रमसेकम एक समय तक का अन्तर होता है। क्योंकि काययोगसे मनोयोग में या वचनयोग में जाकर एक समय रह कर दूसरे समय में मरण करने या योग के व्याघातित होने पर पुनः काययोगको प्राप्त हुए जीवके एक समय जघन्य अन्तर पाया जाता है। (ध ४–२०६)

प्रश्न—वैक्रियिक मिश्र काययोगी का उत्कृष्ट अंतर कितना होता है?

उत्तर—वैक्रियिक मिश्र काययोगी का उत्कृष्ट उत्कर्ष से बारह मुहूर्त होता है। क्योंकि, देव, अथवा

नारकियोंमे न उत्पन्न होनेवाले जीव यदि बहुत अधिक काल तक रहते हैं तो बारह मुहूर्त तक ही रहते हैं।
(ध ७-४८५)

वेद मार्गणा

वेद तीन होते हैं। १ स्त्रीवेद २ पुरुषवेद ३ नपुंसक वद। यह तीनों वेद आत्मा के परिणाम हैं। स्त्रीवेदमे पुरुष के साथ रमनेका भाव होता है। पुरुषवेद मे स्त्रीके साथ रमनेका भाव होता है। नपुंसकवेद मे स्त्री तथा पुरुष दोनो के साथ रमने का भाव होता है। इन तीनो भावका नाम भाववेद है। तथा नोकषाय, वेदनीय, मोहनीय नामक कर्मकी प्रकृति का नाम द्रव्यवद है। पुरुष स्त्री रूपी ढाचे को द्रव्य वेद मानना भूल है। यह तो नामकर्मकी अगोपाग नामक कर्म प्रकृतिका फल है।

प्रश्न—स्त्री वेदी जीवो के अपर्याप्त काल म कौनसा गुणस्थान होता है ?

उत्तर—स्त्री वेदी जीवो के अपर्याप्त काल म मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान होता है। (ध २-६७४)

प्रश्न—मनुष्यनियों म (स्त्री वेदमे) असयत सम्यग्दृष्टि जीव कितने हैं ?

उत्तर—मनुष्यनियोम (स्त्री वेद में) असयत सम्यग्दृष्टि, ... यत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतमे

सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं। क्योंकि अप्रशस्त वेद उदयके साथ दर्शन मोहनीयको क्षपण करने वाले जी बहुत नहीं पाये जाते। (ध. ५–२७८)

भाव स्त्रीवेदी तथा भाव नपुंसकवेदी पुरुषको आहा रक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है एवं मन पर्ययज्ञान औ परिहार विशुद्धि संयम भी उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका—मैथुन संज्ञा का वेद मार्गणामें अन्तर्भ होता है या नहीं ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि तीनों वेदोंके उद सामान्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई मैथुन संज्ञा और वेदो उदय विशेष स्वरूप वेद इन दोनोंमें एकत्व नहीं सकता है। (ध २–४१३)

कषाय मार्गणा—

कषाय २५ (पच्चीस) होती हैं। १ अनन्तानुब २ अप्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यान, ४ संज्वलन। इन प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभरूप आत्म प णाम यह सोलह कषाय तथा नौ नोकषाय—१ हा २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगप्सा, ७ वेद, ८ पुरुषवेद और ९ नपुंसकवेद। यह भी आत्म परिणाम हैं। यही नौ मिलकर २५ कषायरूप भाव हैं। यह आत्माके चारित्र नामके गुणके विकारी परि

है यही आकुलताकी जननी है। इसही परिणामके मिटने से ही अनाकुल दशाकी प्राप्ति होती है।

शंका—परिग्रह संज्ञा लोभ कषायमें अन्तर्भाव होती है?

समाधान—परिग्रह संज्ञा भी लोभ कषायके साथ एकत्वको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण परिग्रह संज्ञाको धारण करनेवाले लोभसे, लोभ कषायके उदय रूप सामान्य लोभमें भेद है। अर्थात् बाह्य पदार्थों के निमित्तसे जो लोभ होता है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं, और लोभ कषायके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको लोभ कहते हैं।

शंका—यदि यह चारों ही संज्ञाएं बाह्य पदार्थों के संसर्गसे उत्पन्न होती हों तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवों के संज्ञाओंका अभाव हो जाना चाहिये।

समाधान—नहीं! क्योंकि अप्रमत्तोंमें उपचारसे उन संज्ञाओंका सद्भाव स्वीकार किया गया है। (ध २-४१३)

ज्ञान मार्गणा—

ज्ञान आठ प्रकारका होता है। १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्ययज्ञान, ५ केवलज्ञान, ६ कुमतिज्ञान, ७ कुश्रुतज्ञान और ८ कुअवधिज्ञान। यह आत्मा की परणति है। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान तथा जब तक [illegible] मूर्में मिथ्यात्वरूप भाव हैं तब [illegible]

लेश्या मार्गणा—

आत्मा और प्रवृत्ति (कर्म) का संश्लेषण अर्थात् संयोग करनेवाली लेश्या कहलाती है। अथवा जो कर्मों से आत्माको लेप करती है वह लेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असयम, कषाय, और योग ये लेश्या हैं। इस प्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्याय वाची ग्रहण किया है, अथवा कषाय में अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्याका लक्षण करने से केवल कषाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं, किंतु कषायानुविद्ध योग प्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं, ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि लेश्या में योगकी प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि वह योग प्रवृत्ति का विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है। कहा भी है कि—

लिपदि अप्पी कीरदि एदाए णियय पुण्ण पावच ।
जीवो त्ति होई लेस्सा लेस्सा गुण जाणय क्खादा ।६४।

अर्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको

लिप्त करता है उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्या के स्वरूपको जाननेवाले गणधर देव आदि ने कहा है। (ध १-१५०)

शंका—योग और कषाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य नहीं पाया जाता है इसलिये उन दोनो से भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि विपरीतताको प्राप्त हुए, मिथ्यात्व, अविरत आदिके आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थों के संपर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायसे केवल योग और केवल कषायसे भिन्न संसार की वृद्धिरूप कार्य की उपलब्धि होती है, जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये लेश्या उक्त दोनों से भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है। कषायका परिणाम छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है। तीव्रतम तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायरूप परिणामसे उत्पन्न हुई परिपाटी क्रमसे लेश्या भी छ हो जाती है। १ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और ६ शुक्ललेश्या। (ध १ ३८७)

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि

होते हैं।

पीत लेश्या और पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक होते हैं।

शुक्ललेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक होते हैं।

शंका—जिस गुणस्थान में कषाय का उदय पाया नहीं जाता है तो फिर वहां शुक्ललेश्या किस कारण से कही ?

समाधान—यहां पर कर्म और नोकर्म लेपके निमित्त भूत योग का सद्भाव पाया जाता है इसलिये शुक्ल लेश्या कही है। (ध १–३९१)

शंका—केवल योगको लेश्या संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ?

समाधान— नहीं ! क्योंकि जो लेपन करती है वह लेश्या है। इस निरुक्तिके अनुसार योगके भी लेश्या संज्ञा सिद्ध है।

यथार्थ में विचारा जाय तो लेश्या क्रिया गुण की पर्याय का नाम है। लेश्याका अर्थ है प्रवृत्ति करना। कषाय चारित्र गुण की विकारी पर्याय का नाम है। दोनों अलग २ आत्मा के गुण हैं। एक गुण दूसरे गुणका कार्य कर ही नहीं सकता यही मानना अनेकान्त है।

जिनागम में प्राय कर लेश्या का जहां २ वर्णन किया है वहां लेश्या को कषाय में गर्भित कर वर्णन किया गया है। इसी अपेक्षा से ही लेश्या का लक्षण कषायसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति को लेश्या कही जाती है, परन्तु परमार्थसे विचारा जावे तो यह योग्य नहीं है। क्योंकि कषाय अलग गुण की पर्याय है और लेश्या अलग गुण की पर्याय है। एक गुणमें दूसरा गुणका अन्योन्य अभाव है ऐसा स्वीकार न करनेवाले जीवको अनेकान्त का ज्ञान नहीं है। दखिये नरक में अशुभ ही लेश्या है तो भी नारकी नियम से मरकर सज्ञी पचेन्द्रिय ही होता है। जब प्रथम दूसरे स्वर्गके जीव पीत लेश्यावाले हैं तो भी मरकर निगोद में अर्थात् एकेन्द्रिय में जा सक्ते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह लेश्या का फल नहीं है परन्तु मात्र कषाय का ही फल है। इससे सिद्ध हुआ कि कषाय अलग है लेश्या अलग है। केवली परमात्मा के कषाय नहीं है परन्तु लेश्या है। लेश्या का नाम है क्रिया गुणकी पर्याय जिससे भगवान विहार करते हैं। अर्थात् गमनागमन करते हैं वही लेश्या है जिसको प्रवृत्ति कहते हैं। लेश्या दुःख दायक नहीं है दुःख दायक मात्र कषाय भाव है। केवली परमात्मा के लेश्या होते हुए भी अनन्त [illegible]
जब [illegible] दिके दयको परम शुक्ल लेश्या

भी कषाय के कारण महा दुःख ही है।

शंका—औदारिक मिश्र काययोगी जीवाके भावसे छह लेश्या होनेका क्या कारण है?

समाधान—औदारिक मिश्र काययोग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भावसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्या ही होती है। और कपाट समुद्घात-गत औदारिक मिश्र काययोगी सयोग केवली के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। किन्तु जो देव और नारकी, मनुष्य गति में उत्पन्न हुए हैं औदारिक काययोग में वर्तमान हैं और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भावलेश्याएँ अभी तक नष्ट नहीं हुई हैं, उन जीवोंके भाव से छहों लेश्यायें पाई जाती हैं, इसलिये औदारिक मिश्र काययोगी जीवोंके छहों लेश्याएँ पाई जाती। इसलिये औदारिक मिश्र काययोगी जीवों के छहों लेश्या कही गई हैं।

शंका—मरणकाल में लेश्याओं का परिवर्तन किसके होता है?

समाधान—तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले परमार्थिक अज्ञानकार और तीव्र लोभ कषायवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवों के मरते समय संक्लेश उत्पन्न होजाने से तेज (पीत) पद्म, और शुक्ल लेश्यायें नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्या-

जोंमें यथासम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है, किन्तु जो मनुष्योंमें ही उत्पन्न होनेवाले हैं, मद लोभ कषायवाले हैं, परमार्थके जानकार हैं, और जिन्होंने जन्म, जरा और मरणके नष्ट करनेवाले अरहन्त भगवन्त में अपनी बुद्धिको लगाया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवोंके निरन्तर तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यायें मरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती हैं।

शंका—लेश्याका जघन्य काल एक समयका होता है या नहीं, एवं लेश्यामें परिवर्तन किस प्रकार होता है?

समाधान—जैसे नील लेश्यामें वर्तमान किसी जीवके उस लेश्या के काल क्षय हो जानेसे कृष्ण लेश्या हो गई और वह उसमें सब लघु अन्तर्मुहूर्त काल रहकर नील लेश्या वाला हो गया।

शंका—कृष्ण लेश्या के पश्चात् कापोत लेश्या क्यों नहीं हुआ?

समाधान—नहीं! क्योंकि कृष्ण लेश्याके परिणत जीवके तदनन्तर ही कापोत लेश्यारूप परिणमन होनेकी शक्ति का अभाव है।

शंका— यहां पर योग परिवर्तन के समान एक समयरूप जघन्य काल क्यों नहीं पाया जाता है?

[illegible]— नहीं! क्योंकि [illegible]

लेश्याम लेश्याका परिवर्तन अथवा गुणस्थानका परिवर्तन अथवा मरण और व्याघातसे एक समय कालका पाया जाना असम्भव है। इसका कारण यह है कि न तो लेश्या परिवर्तन क द्वारा एक समय पाया जाता है, क्योंकि, विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीव क द्वितीय समय म उस लेश्या के विनाशका अभाव है। तथा इसी प्रकार से अन्य गुणस्थान को गये हुए जीव क द्वितीय समय म अन्य लेश्या म जाने का भी अभाव है। न गुणस्थान परिवर्तन की अपेक्षा एक समय सभव है, क्योंकि विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीव क द्वितीय समय म अन्य गुणस्थान के गमन का अभाव है। न व्याघात की अपेक्षा ही एक समय सभव है क्योकि, वतमान लेश्या के व्याघातका अभाव है। और न मरण की अपेक्षा ही एक समय सभव है, क्योंकि, विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीवक द्वितीय समयमे मरणका अभाव है। (ध ४–४५६)

शका––पद्म लेश्या के काल म विद्यमान कोई प्रमत्त सयत उस लेश्या के काल क्षय से तेजो लेश्या से परिणत होकर द्वितीय समय म अप्रमत्त सयत क्यो नहीं हो जाता है ?

समाधान––नहीं ! क्योंकि हीयमान लेश्याके साथ अप्रमत्त गुणस्थान के ग्रहण करने का अभाव है।

सज्ञत्व मार्गणा—

सज्ञत्व मार्गणा दो प्रकारकी होती है। १ संज्ञी और २ असज्ञी। जिस जीवको ज्ञानोपयोग करनेमे सहायक पौद्‌गलिक मन मिला है वही सज्ञी जीव कहलाता है, और जिस जीवको ज्ञानोपयोग करनेमे सहायक पौद्‌गलिक मन नहीं मिला है वह असज्ञी जीव है। यह मन, जबतक क्षायोपशमिक ज्ञानकी अवस्था होती है तबतक सहायक है। क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान पराधीन ज्ञान है। ज्ञान का विकास होते होते यदि पौद्गलिक मन बिगड़ जावे तो आत्मा ज्ञान कर नहीं सकता है, उसी समय आत्माका ज्ञान लब्धिरूप रहता है परन्तु उपयोग रूप कार्य कर नहीं सकता है। मनका सहारा बारहवें गुणस्थान के अततक लिया जाता है। तो भी मन आत्मिक गुण नहीं है वह तो पौद्‌गलिक सयोगी वस्तु है, वह जड़ पदार्थ है।

आहारक मार्गणा—

यह मार्गणा दो प्रकारकी है। १ आहारक २ अनाहारक। जब जीव बाह्य शरीरका परमाणु ग्रहण करता है तब वह जीव आहारक कहा जाता है और जो जीव बाह्य शरीर का परमाणु ग्रहण नहीं करता वह अनाहारक जीव कहा जाता है। जीव विग्रहगतिमे एव समुद्‌घात अवस्था

म अनाहारक ही रहता है। जब चौदवा गुणस्थान होता है तब बाह्य शरीरका अभाव हो जाने से वहा जीव अनाहारक होता है बाकी की अवस्था मे जीव आहारक ही है।

शंका—कार्माण काय योग की अवस्थामभी कर्म-वर्गणाओ के ग्रहण का अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा से कार्माण काय योगी जीवों को आहारक क्या नहीं कहा जाता है ?

समाधान—उन्हे आहारक नहीं कहा जाता है। क्योंकि कार्माण काय योग के समय नो कर्म वर्गणाओं के आहारका अधिक से अधिक तीन समय तक विरहकाल पाया जाता है। (ध २–६६६)

इति 'भेद ज्ञान' शास्त्र मध्ये मार्गणा अधिकार समाप्त हुआ।

नवतत्त्वका स्वरूप

नव तत्त्व अर्थात् पदार्थों का संक्षेप स्वरूप और नाम निम्न प्रकार है। १ जीवतत्त्व, २ अजीवतत्त्व, ३ आश्रव-तत्त्व, ४ पापतत्त्व, ५ पुन्यतत्त्व, ६ बन्धतत्त्व, ७ संवरतत्त्व, ८ निर्जरातत्त्व और ९ मोक्षतत्त्व। इनमे मात्र जीवतत्त्व निश्चयनयका विषय है। और आठ तत्त्व व्यवहारनय के विषय हैं। जिसको द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय भी कहा जाता है।

अर्थात् चैतन्य पिण्डका नाम अथवा परमपारणामिक भावका नाम जीवतत्व है, जब कि अनन्तगुण और अनन्त गुणोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्था का एव जीव और पुद्गलकी मिश्रित पर्यायका धारण करनेवाला जीव द्रव्य है, यह इसम भेद है।

जैसा है जीवतत्व ? वर्णादिक अथवा राग मोहादिक आदि सभी भाव इस पुरुष आत्म तत्व से भिन्न है इस कारण अन्तर्दृष्टिसे देखने वाले को ये सभी भाव नहीं दीखते केवल एक चैतन्य भाव स्वरूप "चैतन्यपिण्ड" अभेदरूप आत्मा ही दीखती है। यही निश्चयनय का मात्र विषय है।

वर्णादिसे गुणस्थान पर्यन्त जो २ भाव हैं वह जीव द्रव्यकी अपेक्षा से जीवके है एसा कहा जाता है परन्तु जीवतत्त्वकी अपेक्षासे यह भाव जीवतत्व के नहीं हैं। क्यों कि द्रव्यका लक्षण शुद्धाशुद्ध पर्याय का पिण्ड ।

वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त जो भाव है वे सभी एक पुद्गलके रचे हैं। अर्थात् कर्मके उदय मे ही होते है एसा तुम जानो। इसलिये ये पुद्गल ही हैं, आत्मतत्व नहीं हैं। क्यो कि आत्म तत्व तो विज्ञानघन है ज्ञानका पुज है, इस कारण वर्णादिकासे अन्य है।

जीव तत्व है वह चैतन्य है वह अपने आप अतिशय

रर चमत्काररूप प्रकाशमान है। यह अनादि है किसीसमय म नया नहीं उत्पन्न हुआ। वह अनन्त है जिसका किसीकाल म विनाश नहीं होता है। यह अचल है, चैतन्यपन से अन्य रूप (चलाचल) कभी नहा होता। स्वसवेद्य है आप ही कर जाना जाता है और प्रगट है छिपा हुआ नहीं है।

अनादिकालका बड़ा अविवेकका नृत्य है उसम वर्णादिमान पुद्गल ही (जीव द्रव्य) नृत्य करता है अन्य कोई नहीं है। अभेदज्ञान म (निश्चनयम) पुद्गल ही (जीवद्रव्य ही) अनेक प्रकार से दिखता है। जीवतत्त्व तो अनेक प्रकार नहीं है। यह जीवतत्त्व रागादिक जो कि पुद्गल से हुए विकार (जीवद्रव्यका विकार है) उनसे विलक्षण शुद्ध चैतन्य धातु मय मूर्ति है।

२ अजीवतत्त्व का स्वरूप

आत्माके साथ म जो सयोग जनित पौद्गलिक अवस्थायें है उन्हीं का नाम अजीवतत्त्व है। छह पर्याप्ति पौद्गलिक अजीवतत्त्व हैं। दशप्राण पौद्गलिक अजीवतत्त्व हैं यह जीव तत्व नहीं हैं। औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर अजीवतत्त्व है। समचतुरस्र आदि सस्थान पौद्गलिक अजीवतत्त्व है। वज्रवृषभनाराच आदि सहनन पौद्गलिक अजीवतत्त्व है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पौ
अजीवतत्त्व है। ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य

सुदरता से मेरी सुदरता नहीं है, परन्तु आत्मिक गुणकी सुदरतासे मेरी सुदरता एव शान्ति है। यह विचार न होने का मूल कारण मिथ्यात्व भाव अर्थात् जीव तत्वको भूल कर अजीव तत्वको अपना अर्थात् अजीव तत्वमे अपनी अस्तित्वता मानना,यही मानना ससारकी जननी है। इसलिये ससार से मुक्ति चाहने वाले जीवों को अजीवतत्वका ज्ञान करना मोक्ष मार्ग मे प्रथमोप्रथम जरूरी है। अजीव तत्व का ज्ञान नहीं होने से अजीव तत्वकी सब क्रियाको अपनी क्रिया मानता है। मै बोलता हूँ, मै चलता हूँ, मै खाता हूँ, इत्यादि जीव और पुद्गलकी मिली हुई क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। आत्मा की क्रिया आत्म-प्रदेशो का हलन चलन होना वही मात्र आत्मा की क्रिया है, इस क्रियामे शरीर निमित्त मात्र है। और शरीर की हलन चलन क्रिया पुद्गलकी क्रिया है वह आत्माकी क्रिया नहीं है, परन्तु इस क्रिया मे जीव मात्र निमित्त है। निमित्त नैमित्तिक अवस्थाका ज्ञान न होने के कारण जीवकी क्रियाको तो जानता ही नहीं है, और पौद्गलिक शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर दु खी हो रहा है। शरीर मे से समय समय मे अनत पुद्गल परमाणु निकलते है और अनत आते हैं यह सब क्रियायें आत्मा की इच्छा से नहीं होती है सहज हो रही हैं,तो भी मिथ्या-

त्व के कारण जीव मानता है कि मैं शरीर को चलाता हूँ, मेरे बिना शरीर चल न सके। यह तो मात्र मिथ्या कल्पना है। जब शरीरमें लकवा लगता है तब जीव भीतर में है तो भी शरीर को क्यों नहीं चलाता है? विचार तो करो अब शरीर क्यों नहीं चलाता है? शरीर को चलाना जीवका कर्तव्य नहीं है। संसार अवस्था में समवाय सम्बन्ध से देखा जावे तो जीव उपयोग और योग ये दोही कार्य कर सकता है। उपयोग का अर्थ देखना जानना तथा पुण्य भाव, पाप भाव और वीतराग भाव और योगका अर्थ आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन करना। यह दो कार्य छोड़कर आत्मा तीसरा कार्य कभी भी कर सकता नहीं है। यही दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं इनको अपनी अवस्था मानना सम्यक् ज्ञान है। और शरीर की अवस्था को अपनी मानना मिथ्याज्ञान है।

आश्रव तत्व —

आश्रव दो प्रकारका होता है—१ चेतन आश्रव २ जड़ आश्रव, जिनको शास्त्रीय भाषामें भावाश्रव और द्रव्याश्रव कहते हैं।

चेतनाश्रव—

जिस प्रकार आममें रस, रूप, गन्ध, स्पर्शादि हैं इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र,

स्वभावका प्रतिबन्धक आयु कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरहंतोंके पाया जाता है इसलिए अरहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिये।

शंका—उर्द्ध गमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि उसे आत्माका गुण मान लेने पर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सुख भी आत्माका गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा दुःखोत्पादक मान लेनेपर केवली भगवान के केवलीपना अर्थात् अनंत सुख भी नहीं बन सकता है।

समाधान—यदि ऐसा है तो रहो! अर्थात् अरहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि वह न्याय संगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और प्रदेश भेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है। (ध १-४७)

निर्ग्रंथ गुरुओंकी वैयावृत्त करना एवं गुरुओंकी आज्ञा का पालन करनेका भाव प्रशस्त राग है। उपवासादि छहों प्रकारका बाह्य तप करनेका भाव पुण्य भाव है। स्वाध्याय आदि छहों प्रकारका अभ्यंतर तप करनेका भाव है वह पुण्य भाव है। ब्रह्मचर्य पालन करनेका भाव

पुण्य भाव है। अणुव्रत अर्थात् प्रतिमाएं ग्रहण करनेका भाव पुण्य भाव है। पंच महाव्रत ग्रहण करनेका भाव पुण्य भाव है। ईर्या समिति। भाव अर्थात् पैर द्वारा जीवोंकी घात न हो जावे ऐसे उपयोग सहित चार हाथ भूमि शोधकर चलनेका भाव पुण्य भाव है। पात्र जीवोंको चार प्रकारका दान देनेका भाव है यह भी पुण्य भाव है।

शंका—पात्र जीव किसको कहना चाहिए?

समाधान—जिन जीवोंको देव, गुरु और धर्मकी श्रद्धा है वह सभी जीव पात्र जीव हैं। पात्र जीवोंमें 'तीन' भेद हैं—उत्तम पात्र—नग्न दिगम्बर अठाईस मूलगुणोंको पालन करनेवाले मुनि महाराज। मध्यम पात्र—एलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका और ब्रह्मचारी आदि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। जघन्य पात्र अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं।

देव गुरु शास्त्र के लक्ष्य से या मन्दकषाय रूप भाव होते हैं, वे सभी पुण्य भाव हैं। शास्त्रों को धर्मानुराग से लिखना और लिखवाना यह भी पुण्य भाव है। धर्मोपदेश देनेका भाव पुण्य भाव है। पाठशालाओं का खोलना और बच्चों में धर्मानुराग कराना पुण्य भाव है। जैन अजैनों में शास्त्र बिना मूल्य से वितरण करना यह पुण्य का भाव है। जिससे जिनवाणी का प्रचार होगा [illegible] जीवोंमें धर्म की रुचि विशेष रूप में

होगी। जिनवाणी की प्रभावना करना उत्तम प्रभावना है।

अनुकम्पा—

प्रश्न—अनुकम्पा किसको कहते हैं ?

उत्तर—प्राणी मात्र को दुखी देखकर उसको दुख से मुक्त कराने का भाव अनुकम्पा है, यह पुण्य भाव है। किसी भी जीव को क्षुधावान देखकर उसको क्षुधासे मुक्त कराने का भाव पुण्य भाव है। किसी भी पिपासु जीव के लिये जल पिलाने का भाव पुण्य भाव है। किसी भी जीव को रोगी देखकर उसको रोगसे मुक्त कराने के लिये औषधि देना एवं औषधालय खुलवाने का भाव है यह सभी पुण्य भाव हैं, जिनको अनुकम्पा कहते हैं।

शका—एक क्षुधावान जीवको दुखी देखकर खाने के लिये रोटी देदी। उसने वह रोटी न खाकर उस रोटीसे मछलिया मारने का कार्य किया तो वह पाप किसको लगेगा ?

समाधान—अपना अभिप्रायतो उसकी क्षुधा मिटाने का है। अपने अभिप्राय अनुकूल पुण्य और पापका बन्ध पड़ता है। वह जीव उस रोटी को खाले, या उस रोटीसे मछ लिया मारे, या उस रोटीको अपने से विशेष क्षुधावान को दान द देवे, उसके भागीदार हम लोग नहीं हैं। उसके भावके अनुकूल ही उस जीवको पुण्य या पाप

का बन्ध पड़ेगा।

शका—एक कसाई रोगी है। जब तक यह रोगी है तब तक हिंसा नहीं करेगा। तब उस कसाई को औषधि देना चाहिये या नहीं? क्योंकि औषधि देने से वह रोगसे मुक्त होने तुरन्त वही हिंसाका कार्य करेगा?

समाधान—अपना अभिप्राय कसाईको रोग से मुक्त करने का है। रोगसे मुक्त हुए बाद वह जो चाहे सो कार्य कर उस कार्यके आप भागीदार नहीं हैं। एव हिंसा मात्र कायसे नहीं होती। हिंसा तो मन, वचन, और कायसे, कृत, कारित, और अनुमोदना, द्वारा होती है। रोगकी अवस्था म भी मन द्वारा यह जीव हिंसा करता ही है उसके परिणामों का वही करता है, आप उसके परिणामों के मालिक नहीं हैं। जैसे तदुल मच्छ काय द्वारा कितनी हिंसा होती है, इससे विशेष मनके द्वारा अनत पापको बाधकर जीव नरक निगोद का पात्र बन जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि सब जीव अपने अपने परिणामो से बन्ध और मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

३ चित्त प्रसन्नता—

चित्तम जो कलुपता का भाव है, उससे विपरीत भाव होना उसीका नाम चित्तप्रसन्नता है। जैसे मंदिर बनवाना, धर्मशालाएँ बनवानी, औषधालय खुलवाने, स्कूल खुलवाने,

माने का भाव जो मिट गया वह तो पुण्य भाव है, परन्तु शुद्ध आहार लेनेका भाव है वह तो पाप भाव ही है। शुद्ध आहार लेनेका भाव म कमती स्थिति और कमती अनुभागका बन्ध पाप प्रकृतियों में पड़ता है, अशुद्ध आहार लेने के भाव म विशेष स्थिति और अनुभागका बंध पाप प्रकृतिया म पड़ता है।

भया सज्ञा—भय प्रधानपने सात प्रकार का है। १ इस लोकका भय, २ पर लोकका भय, ३ वेदना भय ४ अरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ मरण भय और ७ आकस्मिक भय। इस भव म लोकका भय रहता है कि ये लोग न मालुम मेरा क्या बिगाड़ कर डालें, ऐसे भावका नाम इस लोक का भय है। परभव में न मालुम गति हो, ऐसा भय रहना परभव का भय है। मेरे शरीर में एवं मेरे निकट के सम्बन्धियों म वेदना अर्थात् रोगोंकी उत्पत्ति न हो जाय इस प्रकार का आत्माम भय रूप भाव होता है, यह वदना भय है। अरक्षाक भय म मेरी कोई रक्षा करने वाला नहीं है, इसलिय यह लोगों की खुशामद करनेका भाव, यह अरक्षा भय है। अगुप्ति भयमें मै गढ़ बनालूं तो मेरी रक्षा होगी। बोम्बका भय से तल घर बनवाना चोरो के भय से गुप्त स्थान रूम एवं भोयरा बनवाने का भाव है सो अगुप्ति भय है। मरणभय—

इन्द्रियादि प्राणोंके विनाश का नाम मरण है, उसकी रक्षा करनेका जो जो भाव होता है वह सभी मरण भय कहा जाता है। आकस्मिक भय—न मालुम कब मरण हो जावेगा इसके भय से जिंदगीका बीमा आदि करा लेनेका भाव है अथवा किसी नई मुसीबत म न पड जाऊ ऐसी चिंता का लगा रहना, यह सभी भाव आकस्मिक भयके भाव हैं। यह सभी पाप के भाव हैं।

३ मैथुनसज्ञा—

स्त्रीका रूप देखकर स्त्रीके साथ रमने का भाव, पुरूपका रूप देखकर पुरूपके साथ रमने का भाव, एव स्त्री तथा पुरूपके साथ रमने का भाव यह सभी भाव पापके भाव हैं। तीव्र पापमें परदरा और वैश्या के सग रमने का भाव होता हैं। और तीव्रतर पापमें मनुष्य, पशुआदि तिर्यचके साथ भोग करने का भाव होता है यह भाव नरक निगोद के कारण हैं।

४ परिग्रहसज्ञा—

दश प्रकार क परिग्रह इकट्ठा करने का भाव है वह सब पापका ही भाव है। लाखों रुपिया होते सन्ते सतोप न कर करोड़ो की चाह करना सभी पापका ही भाव है।

खाने का भाव जो मिट गया वह तो पुण्य भाव है, परन्तु शुद्ध आहार लेनेका भाव है वह तो पाप भाव ही है। शुद्ध आहार खानेका भाव में कमती स्थिति और कमती अनुभागका बन्ध पाप प्रकृतियों में पड़ता है, अशुद्ध आहार लेने के भाव में विशेष स्थिति और अनुभागका बंध पाप प्रकृतियों में पड़ता है।

भया सज्ञा—भय प्रधानपने सात प्रकार का है। १ इस लोकका भय, २ पर लोकका भय, ३ वेदना भय ४ अरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ मरण भय और ७ आकस्मिक भय। इस भव में लोकका भय रहता है कि ये लोग न मालुम मेरा क्या बिगाड़ कर डालें, एसे भावका नाम इस लोक का भय है। परभव में न मालुम गति हो, एसा भय रहना परभव का भय है। मेरे शरीर में एवं मेरे निकट के सम्बन्धियों में वेदना अर्थात् रोगोंकी उत्पति न हो जाय इस प्रकार का आत्माम भय रूप भाव होता है, यह वेदना भय है। अरक्षाक भय में मेरी कोई रक्षा करने वाला नहीं है, इसलिये बड़े लोगों की खुशामद करनेका भाव, यह अरक्षा भय है। अगुप्ति भयमें मै गढ़ बनालूतो मेरी रक्षा होगी। नोम्रका भय से वल घर बनवाना चोरों के भय से गुप्त स्ट्राग रूम एवं भोयरा बनवाने का भाव है सो अगुप्ति भय है। मरणभय–

इन्द्रियादि प्राणोंके विनाश का नाम मरण है, उर
रक्षा करनेका जो जो भाव होता है वह सभी मरण
कहा जाता है। आकस्मिक भय—न मालुम कब मरण
जावेगा इसके भय से जिंदगीका बीमा आदि करा लें
भाव है अथवा किसी नई मुसीबत म न पड़ जाऊं
चिंता का लगा रहना, यह सभी भाव आकस्मिक भ
भाव हैं। यह सभी पाप के भाव हैं।

३ मैथुनसज्ञा——

स्त्रीका रूप देखकर स्त्रीके साथ रमने का
पुरुषका रूप देखकर पुरुषके साथ रमने का भाव,
स्त्री तथा पुरुषके साथ रमने का भाव यह सभी
पापके भाव हैं। तीव्र पापम परदरा और वेश्या के
रमने का भाव होता है। और तीव्रतर पापम मनु
पशुआदि तिर्यंचके साथ भोग करने का भाव होता
यह भाव नरक निगोद के कारण हैं।

४ परिग्रहसज्ञा——

दश प्रकार के परिग्रह इकट्ठा करने का भाव है
सब पापका ही भाव है। लाखों रुपिया होते सन्ते
न कर करना सभी पापका ही भाव

२ अशुभलेश्या—

कृष्ण लेश्या रूप भाव, नील लेश्या रूप परिणाम और कापोत लेश्या रूप भाव यह सभी पाप के ही भाव है। हिंसा में प्रमाद प्रधान है। कषायम अभिलाषा प्रधान है और लेश्याम प्रवृत्ति प्रधान है।

६ इन्द्रियों के आधीन—

पाच इन्द्रियों क विषय इकट्ठे करने का एव भोगने का सभी भाव पाप भाव है। रेडियो सुनने का भाव, सिनेमा देखने का भाव, सुगन्धित पदार्थों—तेल सेन्ट लोशनादिक उपभोग करने का भाव, मिष्ट भोजनादि खानेके सभी भाव एव सुन्दर मलमल, मखमल, बनारसी सेला आदि स्पर्श इन्द्रियोंके विषय भोगनेका भाव सभी पाप भाव है।

४ आर्तध्यान रौद्रध्यान—

इष्ट वियोग म दुखी होना अनिष्ट पदार्थों के सयोग से दु खी होना, पीडा चिन्तन और निदान का भाव यह सबही भाव पापक ही भाव है। इन भावो का नाम आर्त-ध्यान है। हिंसा करने म आनद मानना, चोरी करने म आनद मानना, झूठ बोलनेम आनद मानना और परिग्रह खूब सचय करने म आनद मानना यह सब ही भाव रौद्र-

ध्यानके भाव हैं। यह सभी भाव पापके ही भाव हैं।

५ हिंसाके उपकरण बनाने का भाव---

मैं ऐसा बम्ब बनाऊँ कि जिससे एक साथमें हजारों जीव मर जावें यह भाव पापका भाव है। मैं ऐसी मशीन बनाऊँ कि जिसमें थोड़े समय में हजारों मछलियाँ पकडी जावें और मरण को प्राप्त हो जावें। मशीनगन, रिवोल्वर राकेट आदि हथियार बनाने के जो भाव हैं सभी हिंसा बढ़ाने के हैं और ऐसे भाव पापके ही भाव हैं।

६ मिथ्यात्व---

यह भाव सबसे बड़ा पापका भाव है। मिथ्यात्व जैसा कोई पाप नहीं है और सम्यग्दर्शन जैसा कोई धर्म नहीं है। परवस्तुको अपनी वस्तु मानना यही मिथ्यात्व भाव है। पुण्यभाव में धर्म मानना भी मिथ्यात्व है।

७ कषाय भाव---

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद रूप जितने भाव होते हैं वह सभी पाप भाव हैं। इन सभी भावोंका नाम चेतन पाप है, अर्थात् भाव पाप है।

जडपाप---

१म जो कार्माण वर्गणा आत्मा के

नजदीक आयी थी उन्हीं वर्गणाओंका आत्मा के प्रदेशों म
कालकी मर्यादा लेकर एक क्षेत्रम चिपक जाना अर्थात
रहजाना इसीका नाम जड़पाप है अर्थात् द्रव्य पाप है
आत्मा पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंको बाधता नहीं है परन्त
जिस समयम आत्मा भाव करता है उसी समयम कार्माण
वर्गणा आपसे आप कर्मरूप अवस्था धारण कर जाती है
जैसे मनुष्यके धूपम खड़ा रहने पर आपसे आप उसकी
छाया बन जाती है। तो भी निमित्तकी प्रधानता से आत्म
द्रव्य कर्मोंको बाधता है या कार्यों का कर्ता है यही कहना
स्याद्वाद है।

बन्धतत्त्व—

बन्धतत्त्व दो प्रकारका है। १ चेतनबन्ध २ जडबन्ध
चेतनबन्ध—आत्मा म अनेक गुण हैं। इनम से श्रद्धागुण
चारित्रगुण तथा क्रिया नामक गुणोंके विकारी परिणम
का नाम बन्धतत्त्व है। यही ससार मे फँसाने वाला है।

श्रद्धागुण के विकारी परिणमनका नाम मिथ्यादर्श
है। और श्रद्धा गुणके शुद्ध परिणमनका नाम सम्य
ग्दर्शन है। जब श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप अवस्था धार
करता है उसी अवस्था का नाम बन्ध तत्त्व है। मिथ्यात
अवस्था म आत्मा पुण्य भावम धर्म बुद्धि करता है
मिथ्यात्व भावम आत्मा परपदार्थों को अपना मानत

है। अर्थात् यह शरीर म हू, पुत्र मेरा है, पत्नी मेरी है, पिता मेरा है, माता मेरी है, यह मेरा है, यह मेरी लक्ष्मी है इत्यादि मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा मानता है कि म परजीवोंको मार सकता हू, म परजीवोंको बचा सकता हू। मै परजीवको सुख दु ख द सकता हू। परजीव मुझको मार सकते हैं। परजीव मुझको बचा सक्त हैं। परजीव मुझको सुख दु ख दे सकत हैं। मिथ्यात्व अवस्था म कर्म जनित जो पौद्गलिक ढाचा रूपी शरीर मिला है इसम कल्पना करता है कि म स्त्री हू, मै बालक हू, मै जवान हू, म बूढ़ा हू, म ढर हू, म बेल हू, म हाथी हू, म तोता हू, म मगरमच्छ हू, म नारकी हू इत्यादि जो जो शरीर की अवस्था है उसको अपनी मानता है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता है। हाफुस आम अच्छा है, गुलाबजामुन अच्छी है, सेन्ट लवन्डर अच्छा है, मलमल क कपड़े, मखमल के कपडे, बनारसी साड़िया आदि अच्छे है। विष्टा खराब है। रूखी रोटी खराब है, दुर्गन्धित पदार्थ खराब हैं इत्यादि इष्टानिष्ट . करता है। मिथ्यात्व
न मेरा कल्याण कर दे
, शास्त्र मेरा

जिनवाणी माताकी भक्ति मेरा कल्याण कर देगी। इत्
मान्यता में मिथ्यात्व का बन्ध पड़ता है।

चारित्रगुण के विकारी परिणमन मे आत्मा म
है कि क्रोध किए बिना चले नहीं। क्रोध करने से
मुनीम नोकर आदि सीधे चलते हैं। मान बिना
जिस समझ, ऐसा सोचकर अभिमान मे सुखकी कल्
करता है। मायाकर लाखों रुपया धन कमाने की
करता है। झूठ बोले बिना व्यापार होता ही नहीं
धन तो मायाचारी से ही कमाया जाता है। पोलिटि
बनने मे शोभा है। पोलिटिकल मनुष्य को सरकार
चाहती है।

प्रश्न—पोलिटिकल किसको कहते हैं।

उत्तर—करना कुछ और कहना कुछ इसीका
पोलिसी है, इससे काम लेने वाला पोलिटिकल कहा
कहा भी है कि—

मुख मे राम बगल मे छुरी भगत भया पन
युगी। इसीका नाम पोलिटिकल है।

जितना जितना धन बढ़ता जाय उतनी २
बढ़ाते जाना। जहा लोभ की थाह नहीं है। इत्यादि
चारित्र गुणका विकारी परिणमन है, जिसका नाम
तत्व है। क्रिया नामके गुणका विकारी परिणमन में

गुण हलन चलन करता है। इस हलनचलन से कर्म भी बन्ध तत्व है। अर्थात् लेश्या भी बंध तत्व है।

यथार्थ में विचार किया जाय तो आत्मा के अनन्त गुण हैं। अनन्त गुणों में से मात्र दो ही गुणों के लिये पुरुषार्थ किया जा सकता है और गुणों के लिये पुरुषार्थ होता ही नहीं। श्रद्धागुण और चारित्र गुणका विकारी परिणमन मिटाने के लिये ही पुरुषार्थ होता है और गुणों के लिये आत्मा पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता है। श्रद्धा गुण और चारित्र गुण पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध करने से और गुण आपसे आप बिना पुरुषार्थ के साथ पाकर सहजही शुद्ध हो जाते हैं।

शंका—ज्ञान गुण, दर्शन के लिये पुरुषार्थ तो किया जाता है और पुरुषार्थ से ज्ञान बढ़ता है यह भी देखनेमें आता है। आप कैसे कहते हो कि और गुणों में पुरुषार्थ नहीं होता है ?

समाधान—पुरुषार्थ से ज्ञान नहीं बढ़ता है। जैसा जैसा ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा वैसा ही ज्ञान बढ़गा। जैसे एक मनुष्य एक ही दफे पढ़ता है और एक कंठस्थ हो जाता है, और एक मनुष्य दिन रात पढ़ता है तो भी पाठ कण्ठस्थ नहीं होता है। सोचिये ... पुरुषार्थ किसने किया ? एक को मालूम

ज्ञान बढ़ गया और एकने बहुत पुरुषार्थ किया और ज्ञान बढ़ा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानका बढ़ना पुरुषार्थ के आधीन नहीं है, परन्तु कर्म के आधीन है।

जो रागद्वेष और मोहसे छुटना चाहता है उसको यथार्थ श्रद्धा करके रागद्वेष छोड़ना चाहिए, यही बन्धन से मुक्त होने का मात्र एक ही कारण है।

प्रश्न—बंध के कारण कौनसे हैं?

उत्तर—स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों द्वारा बहुत भरा हुआ लोक बंधका कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो लोकमें सिद्ध भी मौजूद हैं उनके भी बंधका प्रसंग आवेगा। काय, मन, वचनकी क्रिया स्वरूप योग भी बंधका कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो मन, वचन, कायकी क्रियावाले यथाख्यात संयमियों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की इन्द्रियां भी बंध का कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो केवलज्ञानियों के भी उन इंद्रियोंसे बंध का प्रसंग आवेगा। तथा सचित्त अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बंध का कारण नहीं है, यदि उससे बंध हो, तो जो साधु समिति में तत्पर हैं यत्नरूप प्रवृति करते हैं उनके भी सचित्त अचित्त के घात से बंध का प्रसंग आवेगा। न्यायके बलकर यह सिद्ध हुआ कि जो उपयोग में रागादिक का करना है वही बंध

का कारण है।

लोक आदि कारणा से बंध नहीं कहा और मात्र रागादिकसे बंध कहा तो भी ज्ञानिया को मर्यादा रहित स्वच्छंद प्रवर्तना योग्य नहीं कहा है, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छद) प्रवर्तना ही बंध का कारण है।

प्रश्न—क्या परवस्तु बंध का कारण नहीं है?

उत्तर—रागादिक परिणाम ही बंधका कारण है, बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है। क्योंकि बंधका कारण जो रागादिक है, उसके कारणपनेकर ही बाह्य वस्तुके चरितार्थ पना है। बाह्य वस्तु तो रागादिकका ही कारण है बंधका कारण नहीं है। बाह्य वस्तु के बिना निराश्रय रागादिक उत्पन्न नहीं होता है इसी कारण रागादिकका आश्रयभूत जो बाह्य वस्तु उसका अत्यंत निषेध है। इसलिये कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का भी प्रतिषेध होता है यह नियम है, न्याय है। बाह्य वस्तु रागादिकका हेतु है इस कारण उसके निषेधसे रागादिका निषेध हो सकता है, परन्तु बाह्य वस्तुके बंधका हेतु रागादिक का हेतु पना होने पर बाह्य वस्तु बंधका हेतु नहीं है इसमें व्यभिचार है, क्योंकि जैसे कोई मुनि ईर्या समिति रूप प्रवर्त रहा है उसके चरण से हना गया जो काल का प्रेरा अति वेग से शीघ्र आकर पड़ा कोई उड़ता हुआ जीव उसके

मर जाने से मुनीश्वरको हिंसा नहीं लगती उसी तरह अन्य वस्तु भी बंध के कारण माने गये हैं वे अबंधके भी कारण हैं। इसलिये बाह्य वस्तु में बंध का कारण पना माननेमें अनैकान्तिक हेत्वाभास पना (व्यभिचार) आता है, क्योंकि यथार्थ से बाह्य वस्तु में बंधका कारण पना निर्दोष सिद्ध नहीं होता। जीवके बाह्य वस्तु, अतद्भावरूप है वह बंध कारण नहीं है तद्भाव रूप रागादिक ही बंधका कारण है।

इस लोकमें जिस वस्तुका जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही स्वाधीन पना है यह निश्चय है सो उस स्वभाव को अन्य कोई अन्य सरीखा करना चाहे तो कभी अन्य सरीखा नहीं कर सक्ता है। इस न्याय से ज्ञान निरंतर ज्ञान स्वरूप ही होता है, ज्ञानका अज्ञान कभी नहीं होता, यह निश्चय है। इसलिये हे ज्ञानी! तू कर्म के उदय जनित उपभोगको भोग, क्योंकि परद्रव्य से बंध नहीं है। यदि परद्रव्य से बंध होता है ऐसा मानने से तू मिथ्यादृष्टि हो जावगा।

हे ज्ञानी! तुझको कुछ भी कर्म कभी नहीं करना योग्य है तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरा तो कदाचित् भी नहीं है और मैं परद्रव्यको भोगता हूं। तो आचार्य कहते हैं कि जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खाने वाला है। हे भाई! जो तू कहे कि

परद्रव्य के उपभोग से बध नहीं होता है ऐसा सिद्धान्तमे कहा है इसलिये भोगता हूँ, उस जगह तेरे क्या भोगने की इच्छा है ? तू ज्ञानरूप हुआ अपने स्वरूप मे निवास करे तो बध नहीं है और जो भोगनेकी इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ। तब अपने रागादिक परिणामका अपराध कर नियम से बधको प्राप्त होगा।

प्रश्न—समयसार ग्रन्थ मे कहा है कि अव्रत सम्यग्दृष्टिको भोग करने से भी बध नहीं होता परन्तु निर्जरा होती है, वह कैसे कहा है ?

उत्तर—यह तो सम्यक्त्वकी महिमा दिखानेको कहा है कि देखो सम्यग्दृष्टि जीवको भोग करते भी मिथ्यात्व तथा अनतानुबधी का बध नहीं पडता। भोग करनेका भाव तो नियम से पापका ही भाव है। सम्यग्दृष्टिको भी भोग करने के भाव से पाप का ही बध पडता है। यदि गृहस्थावस्थामे ही निर्जरा होती हो तो शान्तिनाथ आदि तीर्थंकरोंने छह खड की ऋद्धि एव छियानवे हजार स्त्रियोंको छोड़कर निर्ग्रंथ मुनि क्यों बनना पड़ा ?

सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान वैराग्यकी शक्ति होती है, क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपने यथार्थ स्वरूपका अभ्यास करनेको अपने स्वरूपका ग्रहण और परके त्याग की विधि करके यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य

का स्वरूप है—ऐसे दोनोंका भेद परमार्थसे जानकर अपने स्वरूपमें तिष्ठता है और परद्रव्यसे सब तरहसे रागका योग छोड़ता है। सो यह रीति ज्ञान वैराग्यकी शक्तिके बिना नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि सामान्य कर सभी परभावोंसे भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूप आत्माके तत्त्वको अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्त्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न हुए अपने वस्तुपनेको फैलाता हुआ कर्मके उदय के विपाकसे उत्पन्न हुए जो भाव उन सबको छोड़ता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि नियमसे ज्ञान और वैराग्य सहित होता है, यह सिद्ध हुआ।

जो जीव परद्रव्यमें रागद्वेष मोह भाव कर तो संयुक्त है और अपनेको ऐसा मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् कर्मका बंध नहीं होता, शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके बंध होना नहीं कहा है, ऐसा मानकर जिसका मुख गर्व सहित ऊँचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमांचरूप हुआ है वह जीव महाव्रतादि आचरण करे, तथा वचन विलास अर्थात् प्रबल वक्ता हो, आहारकी क्रियामें यत्नसे प्रवर्तनेकी उत्कृष्टताका भी अवलम्बन करे तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही है। क्योंकि आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित है, इसलिये

सम्यक्त्वसे शून्य है। उसके सम्यक्त्व नहीं है।

प्रश्न—अव्रत सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता है ऐसा समयसार ग्रंथमें कैसे कहा है?

उत्तर—यह तो मिथ्यात्वकी अपेक्षासे कहा है। अव्रत सम्यग्दृष्टिके भी तीन कषायका अर्थात् अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन कषायका, समय २ में बंध पड़ता है। समयसारके आश्रव अधिकारमें भी कहा है कि—

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्त्व ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ—(यस्मात् तु) जिस कारण (ज्ञानगुण) ज्ञानगुण (पुनरपि) फिर भी (जघन्यात् ज्ञानगुणात्) जघन्य ज्ञानगुणसे (अन्यत्व) अन्यपनेरूप (परिणमते) परिणमता है (तेन तु) इसी कारण (सः) वह ज्ञान गुण (बंधकः) कर्मका बंध करनेवाला (भणितः) कहा गया है।

जब तक ज्ञान गुणका जघन्य भाव है—क्षायोपशमिक भाव है तबतक वह अंतर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है, ज्ञान भाव रूप अंतर्मुहूर्त ही रहता है बाद अन्य प्रकार परिणमता है। इसलिये अन्यपना रूप इसका परिणाम है वह यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होने से बंधका कारण ही है। तथा

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमत जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१७२॥

अन्वयार्थ—(दर्शन ज्ञान चारित्र) दर्शन ज्ञान चारित्र (यत्) जिस कारण (जघन्यभावेन) जघन्य भावरूप (परिणमते) परिणमन करते हैं (तेन तु) उस कारण से ज्ञानी (ज्ञानी) (विविधेन) अनेक प्रकार के (पुद्गल कर्मणा) पुद्गल कर्मों से (बध्यते) बंधता है।

ज्ञानी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टभाव से देखने, जानने और आचरण करने में असमर्थ है तब तक उस ज्ञानीके भी ज्ञानके जघन्य भावकी अन्यथा अप्राप्ति कर जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धि पूर्वक कर्म कलंकका सद्भाव है, इसलिये पुद्गल कर्म का बंध होता है। इस कारण उसे यह उपदेश है कि तभी तक ज्ञानका देखना, जानना और आचरण करना जबतक ज्ञानका पूर्ण-भाव जितना है उतना देखना जानना आचरण करना अच्छी तरह न हो जाय। उसके बाद अर्थात् केवलज्ञान होने के बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही है।

प्रश्न—ज्ञानी अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्म का कर्ता कबतक कहा जाता है ?

उत्तर—श्रद्धाकी अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान से रागादिक को हेय समझता है अर्थात् सम्यक्त्वाचरण

चारित्र की अपेक्षा से कर्मका अकर्त्ता है। परन्तु बुद्धि पूर्वक रागादिक की अपेक्षा से अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा से जब तक रागादिकका निमित्त भूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करे तब तक नैमित्तिक भूत रागादि भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं होता। और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न हो तब तक रागादि भावोंका कर्ता ही है। जिस समय रागादि भावोंका निमित्त भूत पर द्रव्यों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है उसी समय नैमित्तिक भूत रागादि भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है। तथा जिस समय इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान हुवा उस समय बुद्धि पूर्वक रागका साक्षात् अकर्ता ही है। और जब संयमाचरण चारित्र पूर्ण होता है अर्थात् यथाख्यात चारित्र होता है तब साक्षात् कर्मका अकर्ता ही है, अर्थात् वीतराग ही है।

प्रश्न—वीतराग बनने का क्रम क्या है?

उत्तर—जो पुरुष पर द्रव्यका और अपने भावका निमित्त नैमित्तिकपने को विचार कर उस समस्त पर द्रव्यको अपने बलसे पराक्रम से, उद्यम से, त्यागकर तथा पर द्रव्य जिसका मूल है ऐसे बहुतसे भावोंकी परिपाटी को दूरसे युगपत् (एक समय में) उड़ाना चाहता हुआ अतिशयता से बहने वाले प्रवाह रूप धारावाही पूर्ण एक

संवेदन कर युक्त जो अपना आत्मा उसे प्राप्त होता है। जिससे कि जिसने कर्म बन्धन मूलसे उखाड दिये हैं ऐसा भगवान आत्मा आपमें ही स्फुरायमान (प्रकट) होता है।

ज्ञान स्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञान स्वरूप हुआ शोभायमान होता है तब ही यह मोक्ष का कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है, और इसके सिवाय जो अन्य है वह बंध का कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव बंध स्वरूप है। इसलिये ज्ञान स्वरूप अपना होना ही अनुभूति है। इसतरह निश्चय से बंध मोक्षके हेतु का विधान किया।

प्रश्न—कर्मधारा तथा ज्ञान धारा किसको कहते हैं?

उत्तर—जबतक कर्म का उदय और ज्ञानकी सम्यक् कर्म विरति नहीं तबतक कर्म और ज्ञान दोनोंका एकट्ठापना भी कहा गया है तबतक इसमें कुछ हानि भी नहीं। यहां पर यह विशेषता है कि इस आत्मा में 'कर्मके उदय की जबरदस्ती से आत्मा के वश के बिना कर्म उदय होता है वह तो बंध के लिये ही है', और 'मोक्षके लिये तो एक परम ज्ञान है'। वह ज्ञान कर्मसे आप ही रहित है।

मोक्ष के चाहने वाले को समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं, इस तरह इसे समस्त ही कर्म को छोडनेसे पुण्य पाप की तो क्या बात है कर्म सामान्य में दोनों ही आ

जाते हैं। इस तरह समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर ज्ञान है वह सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभाव रूप होने से मोक्षका कारण हुआ कर्म रहित अवस्थासे जिसका रस प्रतिबद्ध (उद्धत) ऐसा अपने आप दौड़कर आता है।

जडबन्ध—

योग से जो कार्माण वर्गणा आत्मा के प्रदेशों के नजदीक आई थी उसको कालकी मर्यादा लेकर आत्म प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहमें बंधन रूपमें कर्म रूप अवस्था धारण करके रहना इसीका नाम जड़ बन्ध है।

संवरतत्त्व—

संवर दो प्रकार का है। १ चेतन संवर, २ जड संवर। जिनको शास्त्रीय भाषा में भावसंवर और द्रव्यसंवर कहते हैं।

चेतन संवर—

आत्मा के श्रद्धा नामका गुण जो मिथ्यादर्शन रूप परिणमन करता था उसी गुणका शुद्ध परिणमन अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप अवस्था हो जाना इसी का नाम मिथ्यात्व का संवर है। मिथ्यात्वमें जो विपरीत श्रद्धा थी उससे सम्यग्दर्शन में सम्यक् श्रद्धा निम्न प्रकार से पुण्य से धर्म कभी नहीं होता है। संसारमें

नहीं है। पत्नि मेरी नहीं है चैतन्यगुण मेरा है। पिता मेरा नहीं है मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। माता मेरी नहीं है मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। शरीर मेरा नहीं है मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। मैं स्त्री नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं बालक नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं युवा नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं मनुष्य नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं देव नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं तिर्यंच नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं नारकी नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं किसी को बचा सकता नहीं हूं, सब जीव अपनी आयु से बचते हैं। मैं किसी को मार सकता नहीं हूं, सब जीव अपनी अपनी आयु क्षयसे मरणको प्राप्त होते हैं। मैं कोई को सुख दुःख दे सकता नहीं हूं सभी जीव अपने अपने कर्मके उदय से सुखी दुःखी होते हैं। कोई जीव मुझको मार सकता नहीं है, क्योंकि शरीर का न रहना और टिकना आयुके आधीन है। मेरे चैतन्य प्राणका नाश कभी भी होता नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ इष्ट अनिष्ट नहीं है, मात्र मेरा रागादिक परिणाम ही दुःख दायक है और मेरा ज्ञायक स्वभाव ही सुख का कारण है। कोई देव गुरु मेरा तीनकाल में

कल्याण कर नहीं सकता है, मेरा कल्याणका कर्त्ता मेरा आत्मा ही है ऐसे भावसे ही अर्थात् तद्रूप मान्यता, श्रद्धासे मिथ्यात्व का संवर होता है।

मिथ्यात्व का संवर हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीवकी श्रद्धा में सप्त भयका अभाव हो जाता है। तब सम्यग्दृष्टि क्या सोचता है कि मेरा लोक तो चैतन्य स्वरूप मात्र एक नित्य है यह सबमें प्रकट है। इस लोकके सिवाय जो अन्य हैं वह परलोक है। सो मेरा लोक तो किसी का बिगाड़ा हुआ नहीं बिगड़ता, ऐसा विचारते हुए ज्ञानी को इसलोक परलोक का भय नहीं है। ज्ञानी अपना ज्ञान मात्र स्वरूप का भोक्ता है इसी कारण कर्म जनित आई वेदना को अपनी न मानकर उसका भय नहीं खाता है। ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा आत्मा नित्य है, सत्तास्वरूप है, जिसका नाश तीन काल में होता नहीं है इसी कारण ज्ञानी को अरक्षाका भय नहीं है। ज्ञानी समझता है कि मेरी आत्मा में किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। मैं तो त्रिकाल सबसे भिन्न हूँ, इसी कारण ज्ञानी के अगुप्ति भय नहीं है। ज्ञानी विचारता है कि पौद्गलिक द्रव्य प्राणोंका उच्छेद होना उसे मरण कहते हैं। मेरा तो चैतन्य प्राण है वह सास्वत है, उसका तीन काल में नाश नहीं होता है इसी कारण ज्ञानी [illegible] का भय नहीं है। ज्ञानी विचारता

है कि मेरा ज्ञान अविनाशी है, अनादि है, अचल है, एक है, इसमें दूसरेका प्रवेश हो ही नहीं सकता है। इसे अकस्मात् कुछ होता ही नहीं है इसी कारण ज्ञानी को अकस्मात् का भय नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को आत्म-अनुभव हो जाने से मिथ्यात्वका संवर प्रथम होता है।

कषायका संवर—जीवोंको मारने का भाव पाप भाव था और जीवों को बचाने का भाव पुण्य भाव था इन दोनों भावका अभाव होजाने से अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी कषाय भाव तथा प्रत्याख्यानावरणी कषाय रूप भावका अभाव होजाने से अव्रत भावका संवर होजाता है। द्वेष रूप जितना भाव था वहतो सभी पाप भाव था उस भावका अभाव हो जाना यह द्वेषका संवर है। भक्ति के भावका अभाव होकर अपनी आत्मामें स्थिररूप हो जाना वही धर्म है। आत्माका अपने स्वभाव से बाहर निकलना वही आत्माका व्यभिचारी भाव है। अरहंत भक्तिका भाव भी मोक्षमार्ग में व्यभिचारी भाव है। ऐसे भावसे आत्माके कर्मोंका बन्ध पड़ता है। बन्ध भावको अच्छा मानना ऐसा है कि मां दूसरे से नाता करे और बेटा इसीके उपलक्ष में लापसी खानेमें आनन्द मानें। संपूर्ण कषायका अभाव होना यह दूसरा संवर भाव है।

क्रियाका संवर—आत्माके प्रदेशोंका जो क्षेत्रान्तर होता है वह तो बन्धन था परन्तु ऐसा क्षेत्रान्तर होना मिट जाना और आत्माके प्रदेशों का स्थिर होजाना तीसरा क्रियाका संवर है। क्रियाका संवर होनेसे आत्मा लघु कालमें सिद्ध-पदकी प्राप्ति करता है।

जड संवर—पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंका आत्माके प्रदेशों से बन्धन का रुक जाना यह द्रव्य संवर है। जैसे चतुर्थ गुणस्थानमें इकतालीस प्रकृतियोंका बन्धन रुक जाना यह जड़ संवर है। सप्तम नरक के सम्यग्दृष्टि नारकीके जितना संवर है इतनाही संवर सर्वार्थ सिद्धिके देवके है। संवरमें किंचित मात्र अन्तर नहीं है। निर्जरा में दोनों के महान् अन्तर है। नारकीके उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है, जब देवके परमशुक्ल लेश्या है। उसी प्रकार पंचमगुण स्थान-वर्त्ती प्रथम प्रतिमाधारीको जितना संवर है इतना ही संवर ऐलक के भी है। संवर में किंचित् फर्क नहीं है। परन्तु निर्जरामें महान् अन्तर है जितना ही प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है उतना ही संवर है।

निर्जरा तत्त्व—

निर्जरा दो प्रकारकी होती है। १ चेतन निर्जरा, २ जड निर्जरा। जिनको शास्त्रीय भाषामें भाव निर्जरा और द्रव्य [illegible] कहते हैं।

चेतन निर्जरा—आत्मामें मिथ्यात्व भावका अभाव होने बाद ही चेतन निर्जरा आरम्भ होती है । मिथ्यादृष्टियों के चेतन निर्जरा नहीं होती है । मिथ्यात्वका अभाव हुए बिना निर्जरा होती ही नहीं है । मिथ्यात्वका अभाव हुए बाद जिस अंशमें आत्मिक गुणोंकी वृद्धि होती है उसीका नाम निर्जरा है । सम्यग्दर्शन हुवा बाद जितनी २ इच्छाओंका जीवन भरके लिए अभाव होता जाता है उसी का नाम निर्जरा है । मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व के नाश किये पहिले ही व्यवहार चारित्र द्वारा इच्छाओंका अभाव हो जाता है जो कि निर्जराका कारण है परन्तु मिथ्यात्वका अभाव हुए बिना उन्हीं भावों से मात्र पुण्य का बन्ध पड़जाता है । और सम्यग्दृष्टि के इस प्रकार की इच्छाके अभाव से निर्जरा आरम्भ होती है यही सम्यग्दर्शन की महिमा है । बारह प्रकार के तपसे निर्जरा नहीं होती है । तपसे मात्र पुण्य बन्ध होता है ।

शंका—तपसे पुण्य बन्ध कैसे होता है ? सूत्रमें तो "तपसा निर्जरा च" कहा है ।

समाधान—सूत्र में "तपसा निर्जरा च" कहा है वह तो सत्य है परन्तु तपका लक्षण "इच्छा निरोधस्तपः" कहा है जहां इच्छाका निरोध होता है वहां निर्जरा होती है । उपवास करने के दूसरे दिन आहार लेने की इच्छा

तो है वहां इच्छा का निरोध कहाँ हुआ ? जहां जीवनभर की इच्छा मिट जावे, जो इच्छा पीछे खडी न हो पावे उसीका नाम निर्जरा है । तपमें तो एकाध दिनकी इच्छा दब जाती है, पर इच्छा का अभाव नहीं होता है । जहां जहां इच्छा दब जाती है उसीका नाम बाह्य तप है अर्थात् उसीका नाम पुण्य भाव है और जहां २ इच्छाओं [illegible] भर का अभाव हो जाता है उसीका नाम यथार्थ में [illegible] है । मिथ्यात्वका संवर हुआ विना कषायका संवर [illegible] निर्जरा चालू नहीं होती है । इच्छा के अभाव से [illegible] मंदता होती है परन्तु मिथ्यात्व का नाश नहीं [illegible] मिथ्यात्वका नाश तो ज्ञान से ही होता है ।

नारायण लक्ष्मणकी पत्नि "विशल्या" [illegible] में एक लाख मास खमण किया था अर्थात् [illegible] उपवास एक दिन आहार इसी प्रकार [illegible] उपवास किया था जिसके फलसे यह [illegible] देवद्वारा दी हुई शस्त्ररूपी शक्ति जिस [illegible] लग जाती थी वह शक्ति विशल्याके [illegible] मात्र से चली जाती थी । [illegible] भी रावण की मारी हुई शक्ति [illegible] तपसे इतना बड़ा फल मिला [illegible] के नि[illegible] [illegible]

भावका अभाव नहीं हुआ था। यदि मिथ्यात्व का अभाव हो जाता तो स्त्री पर्याय कैसे मिलती ? इससे मालुम होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ बाद ही निर्जरा प्रारम्भ होती है। तप करने से इच्छाएं मंद होती हैं अर्थात इच्छाएं दब जाती हैं परन्तु उसी समय में यदि आत्मा पुरुषार्थ करे और इच्छाका नाश करे तो निर्जरा हो सकती है। इसलिये कारणमें कार्य का उपचार कर तप से भी उपचार से निर्जरा होती है ऐसा कहा जाता है।

इच्छाका नाश होजाना और इच्छा का दब जाना इसमें बहुत ही अंतर है। जितना जितना अंश में इच्छाओं का नाश हो जाता है इतने इतने अंश में निर्जरा होती जाती है यही निर्जरा का क्रम है। सम्यग्दर्शन हुए बाद अंश अंशमें इच्छाओंका अभाव होना उसीका नाम निर्जरा तत्व है।

जड़ निर्जरा—

आत्म प्रदेशों पर जो पौद्‌गलिक कार्माण वर्गणा कर्म रूपमें बैठी थी उसका काल पूर्ण होनेसे अथवा कालकी मर्यादा पहले ही विशुद्ध आत्मिक परिणामों द्वारा खिरजाना उसीका नाम जड़ निर्जरा है।

शंका—सविपाक और अविपाक निर्जरा किसको कहते हैं और वे किस जीवके होती हैं ?

समाधान—सविपाक और अविपाक निर्जरा का भेद पुद्गल जड़ निर्जरा में पड़ता है। आत्माकी निर्जरा अथवा चेतन निर्जरा में दो भेद पड़ते नहीं हैं, वहां तो एकही प्रकारकी निर्जरा है। कालकी मर्यादा पूरी होने से द्रव्य कर्मका आत्म प्रदेशों से अंशमें अलग होजाना उसी का नाम सविपाक निर्जरा है। और कालकी मर्यादा पहले आत्माके विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशों से द्रव्य कर्मोंका अंशमें अलग होजाना इसीका नाम अविपाक निर्जरा है। यह दोनों निर्जरा मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवोंके भी होती हैं। प्रायोग्यलब्धिरूप जब आत्माका परिणाम होता है उस कालमें सत्तर कोड़ाकोड़ीका बन्ध मिटकर अन्तः कोड़ाकोड़ी का होजाना उसीका नाम अविपाक निर्जरा है और ऐसी निर्जरा मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवोंके भी होती है। परन्तु आत्मा की निर्जरा मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होती है, क्योंकि उसने मिथ्यात्व भाव का संवर नहीं किया है।

मोक्षतत्त्व—

मोक्ष तत्व दो प्रकारका होता है। १ चेतनमोक्ष, २ जड़ मोक्ष। जिनको शास्त्रीय भाषामें भावमोक्ष तथा द्रव्य [illegible] हैं।

चेतनमोक्ष–

आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्धता हो जाना उसीका नाम चेतनमोक्ष है।

आत्मा और बन्ध का जुदा करना मोक्ष है। बन्ध का कारण आत्माका श्रद्धा गुण, चारित्र गुण और क्रिया गुणका विकार है, उन गुणोंका शुद्ध परिणमन होजाना वही मोक्ष का यथार्थ में कारण है। बन्धके स्वरूपके ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है अर्थात् बन्धका स्वरूप जानना ही मोक्षका कारण है ऐसा मानना असत्य है अर्थात् मिथ्या कल्पना है। क्योंकि ऐसा अनुमानका प्रयोग है कि कर्मसे बंधे पुरुष के स्वरूप का ज्ञान मात्र ही मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि मात्र यह जानना कर्मसे छूटनेका हेतु नहीं है। जैसे बेड़ी आदिसे बन्धे पुरुषके उस बेड़ी आदि बन्धन के स्वरूपका जानना मात्र ही बेड़ी आदि कटनेका कारण नहीं होता, उसी तरह कर्मके बन्धनका स्वरूप जानने मात्र से ही कर्म बन्धन नहीं छूटता। कर्मके बन्धके विस्तारकी रचना के (अनेक प्रकार होने के) जानने मात्र से ही बन्ध छुटना जो कोई अन्यमति मानते हैं वे उसके ज्ञान मात्र में ही सन्तुष्ट हैं उनका खंडन किया है बन्धकी चिंता भी बंधसे छूटने का अर्थात् मोक्षका कारण है यह मानना असत्य है। यहां भी अनुमानका प्रयोग ऐसा

हो जाती है तो भी आत्माका मोक्ष क्यों नहीं होता है ?

समाधान---आत्मामें अनन्त गुण हैं उन्हींमेंसे मात्र चारित्र नामके गुणकी शुद्धतासे आत्माका चारित्र शुद्ध हो गया ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्धता हो जाना उसीका नाम आत्माका चारित्र हुआ कहा जाता है। ऐसे चारित्रका नाम आत्माका चारित्र है। आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्ध अवस्था हो जानेसे उसी समयमें आत्माका मोक्ष हो जाता है अर्थात् सिद्ध पदकी प्राप्ति हो जाती है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समय में संसारका अभाव हो जाता है और उस ही समयमें सिद्ध पदकी उत्पत्ति हो जाती है।

शंका—प्रथमसे प्रथम आत्माके कौनसे गुणकी शुद्धता होती है और अन्तमें आत्माके किस गुणकी शुद्धता होती है ?

समाधान—आत्माके श्रद्धा नामक गुणकी प्रथम शुद्धता होती है, जिसको सम्यग्दर्शन कहा जाता है और अन्तमें आत्माकी निष्क्रियत्व शक्ति (क्रियावती) की शुद्धता होती है जिसे उपचारसे आत्माको उर्द्धगमन स्वभावकी प्राप्ति हुई ऐसा कहा जाता है। कर्मके सद्भावमें जो शक्ति क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर करती थी वही शक्ति जिसका नाम निष्क्रियत्व शक्ति है वही कर्मोंके अभावमें शुद्ध होती है।

जड़मोक्ष—अनादिकालसे जो पौद्गलिक वर्गणाएँ द्रव्यकर्म रूपसे आत्माके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही बन्धनरूप थीं उन्हीं कर्म वर्गणाओंका आत्माके प्रदेशसे अत्यन्त अभाव अर्थात् क्षय हो जाना उसीका नाम जड़ मोक्ष है।

शंका—क्षय किसे कहते हैं।

समाधान—जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के भेदसे प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अनेक प्रकार के हो जाते हैं ऐसे आठ कर्मों का जीव से जो अत्यन्त वियोग हो जाता है उसे क्षय कहते हैं।

पौद्गलिक द्रव्य कर्मों की कर्म रूप अवस्था मिटकर शुद्ध पुद्गल रूप अवस्था हो जाना उसी का नाम जड मोक्ष है।

प्रतिक्रमणादि अधिकार

ज्ञानसे अन्य जो भाव उसमें ऐसा अनुभव करे कि यह मैं हूँ वह अज्ञान चेतना है। वह दो प्रकार की होती है। १ कर्म चेतना, २ कर्मफल चेतना। उनमें से ज्ञानके सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभवे (माने) कि इसको मैं करता हूँ वह तो कर्म चेतना है और ज्ञानसे अन्य भावों में [illegible] करे कि इसको मैं भोगता हूँ वह

फल चेतना है। ये दोनों ही अज्ञान चेतना हैं व संसार का बीज है। क्योंकि संसार का बीज आठ प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है और कर्मका बीज अज्ञान चेतना है, जिससे कर्म बन्धते हैं। इसलिये जो मोक्षको चाहनेवाला पुरुष है उसको अज्ञान चेतना का नाश करने के लिये सब कर्मों के छोड़ देने की भावना कर एवं समस्त कर्मों के फल की त्यागकी भावना कर अपना स्वभाव भूत मात्र ज्ञानवती भगवती एक ज्ञान चेतना की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये।

अतीत, अनागत और वर्तमान काल संबंधी सभी कर्मों को कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय से छोडकर उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका मैं अवलंबन करता हूँ, इस प्रकार सब कर्मोंका त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

प्रतिक्रमण कल्प—

अतीत काल संबंधी कर्म के त्याग करने को प्रतिक्रमण कहा है। वह उनचास भंगसे प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया था और अन्य से प्रेरणा कर कराया था तथा दूसरे को करते हुए भला जाना था, मनसे, वचन से, कायसे, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या होवे। जो पापकर्म

मैंने अतीत काल में किया, [illegible]

और अन्य को करते हुए [illegible]

वह पाप कर्म मिथ्या हो [illegible]

में किया, अन्यसे [illegible]

हुए भला जाना मनकर, [illegible]

हो। जो पापकर्म अतीत [illegible]

कर कराया, और अन्य [illegible]

कर, कायकर मेरा [illegible]

पाप कर्म अतीत काल [illegible]

कराया और करते हुए [illegible] मनकर [illegible]

वह पाप कर्म मिथ्या [illegible]

मैंने किया, अन्यसे [illegible]

भला जाना, वचन [illegible] मिथ्या हो।

जो पाप कर्म अतीत [illegible] किया, अन्य [illegible]

कर कराया और [illegible]

मेरा वह पाप कर्म [illegible]

में मैंने किया, अन्य [illegible] कराया, [illegible]

कर, कायकर मेरा [illegible] मिथ्या हो [illegible]

अतीत कालमें मैंने [illegible]

मनकर, वचनकर, [illegible] मेरा वह [illegible]

जो [illegible] मैंने [illegible]

हुए को भला जाना, मनकर, वचनकर, कायकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया और अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, वचनकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें किया और करते हुए को भला जाना, मनकर, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यसे प्रेरणाकर कराया तथा करते हुए को भला जाना, मनकर वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें किया अन्यसे प्रेरणाकर कराया, मनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और करते हुए को भला जाना, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अन्यसे प्रेरणाकर कराया और अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया, वचनकर, कायकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, वचनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणाकर कराया और अन्यको करते हुए

भला जाना, वचनकर, कायकर, वह पापकर्म मेरा मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यसे प्रेरणाकर कराया केवल मनसे ही वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया तथा करते हुए को भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया, वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें अन्य को प्रेरणाकर कराया और करते हुए को भला जाना वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकाल में किया और अन्यको प्रेरणा कर कराया, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया और अन्य को करते भला जाना कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया और अन्य को करते हुए [illegible] कायकर, वह मेरा पाप कर्म [illegible]

अतीत कालमें किया, मनकर

कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म अतीत काल में मैंने अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें अन्यको करते हुए भला जाना मनकर, वचनकर, कायकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, मनकर, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें अन्य से प्रेरणा कर कराया, मनकर, वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया मनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्य को करते हुए भला जाना, मनकर कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया, वचनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए को भला

जाना, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, मनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणा कर कराया, मनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें अन्य को करते हुए भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, वचनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणा कर कराया, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें अन्य को करते हुए भला जाना, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म अतीत कालमें मैंने किया, कायकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्ममैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणा कर कराया, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए भला जाना, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।

जो मैंने अज्ञान से अतीत काल में कर्म किये उन सबकोही प्रतिक्रमण रूप कर सब कर्मों से रहित चैतन्य स्वरूप आतमामें आपकर ही निरंतर वर्तता हूँ। [illegible] ज्ञानी जी[illegible]करे। इस तरह प्रतिक्रमण [illegible]ँ।

आलोचना कल्प--

प्रतिक्रमण में अतीत काल में जो पाप किया था उसका निषेध रूप भावना थी और आलोचना कल्पमें वर्तमान कर्त्तापनेका निषेध है। वह भी उनचास भंगसे किया जाता है। मैं कर्मको नहीं करता हूँ, न अन्य से प्रेरणाकर कराता हूँ, और न अन्य करते हुए को भी भला मानता हूँ, मनकर, वचनकर, कायकर इस तरह प्रतिक्रमण में जो उनचास भंग अतीत काल के दिखाए हैं अब उन्हीं में वर्तमान काल लगाकर समझना चाहिये। यह आलोचना कल्प है।

वर्तमान काल में आये हुए कर्म के उदयको ज्ञानी ऐसे विचारता है कि जो पहले कर्म बांधा था उसीका यह कार्य है, यह कार्य मेरा नहीं। मैं तो इसका कर्त्ता नहीं हूं मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूं। जिसकी प्रवृति दर्शन ज्ञान रूप है, उससे इस उदय हुए कर्म को देखने जानने वाला हूँ। मैं अपने स्वरूपमें ही वर्तता हूं। ऐसा अनुभव करना निश्चय चारित्र है।

इस तरह आलोचना कल्प समाप्त हुआ।

प्रत्याख्यान कल्प

प्रतिक्रमणमें अतीत कालमें जो पाप किया था उसका निषेध रूप भावना थी और आलोचना कल्प में वर्तमान

कालके पापकी निषेध रूप भावना थी और प्रत्याख्यान कल्प में प्रत्याख्यान करने वाला कहता है कि आगामी कालमें कर्मोको में नहीं करूंगा। अन्यसे प्रेरणाकर नहीं कराऊंगा, अन्य करते हुएको भला नहीं मानूंगा, मनकर, वचनकर, कायकर इस प्रकार प्रतिक्रमण कल्प में जैसे उनचास भंग दिखाये हैं उन्हीं में अतीत कालके स्थान पर आगामी कालमें मैं पाप नहीं करूंगा, इस प्रकार भावना करनी चाहिये।

प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी कहता है कि आगामी सब कर्मोंका मैं प्रत्याख्यान (त्याग) कर नष्ट मोह वाला हुआ कर्म से रहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में आप कर ही वर्तता हूँ।

सभी कर्म चेतना स्वरूप परिणामों में ज्ञानी तीनों काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान कर सब कर्म चेतना से जुदे अपने शुद्धोपयोग स्वरूप आत्मा का ज्ञान श्रद्धान कर और उसमें स्थिर होनेका विधान कर निष्प्रमाद दशा को प्राप्त हो श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाने के सन्मुख होता है। यह ज्ञानीका कार्य है। ऐसे प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

कर्म फल संन्यास भावना

सर्व कर्म फलोंके संन्यास की भावना करनेवाला

ज्ञानी कहता है कि कर्मरूपी विष वृक्षके यह फल हैं, वे मेरे भोगे विना ही खिरजायो, मैं चैतन्य स्वरूप अपने आत्माको निश्चल अनुभवता हूं। ज्ञानी कहता है कि कर्म का फल जो उदय आता है उसको मैं ज्ञाता दृष्टा हुआ देखता हूँ, उसके फलका भोक्ता नहीं बनता। इसलिये मेरे भोगे विना ही वे कर्म खिर जावें, मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन हुआ उनके देखने जाननेवाला ही रहूँ।

मैं ज्ञानी हूँ, इसलिये मतिज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूं। मैं श्रुतज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं अवधिज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं मनःपर्यय-ज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं केवलज्ञानावरणी कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं चक्षुदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं अचक्षुदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं अवधिदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ,

चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं केवल दर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं निद्रादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणी कर्मके फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं प्रचलादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूँ। मैं स्त्यान-गृद्धिदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं सातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं असाता वेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं सम्यक्त्व-मोहनीय नाम कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूं। मैं मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं

अनन्तानुबन्धी क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मका फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूं। मैं अनन्तानुबंधी मानकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। मैं अनन्तानु बंधी माया-कषाय वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अनंतानुबंधी लोभ-कषायरूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अप्रत्या-ख्यानावरणी मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं अप्रत्याख्यानावरणी माया-कषाय वेदनीय रूप मोहनीय कर्मको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अप्रत्याख्याना वरणी-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्याना-वरणी क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं; चैतन्य स्वरूप

आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्याना वरणी-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं संज्वलन-क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनुभवता हूं। मैं संज्वलन-मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं संज्वलन-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं संज्वलन-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। मैं हास्य-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही

हूं । मैं रति-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फल को नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं । मैं अरति-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरुप आत्माको ही अनुभवता हूं । मैं शोक-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोक्ता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं भय-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप रूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं जुगुप्सानोकषाय-वेदनीय मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं स्त्री-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं पुरुष-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं नपुंसक-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं नरकआयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनुभवता हूँ । मैं तिर्यंचायु कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं । मैं मनुष्य-आयु कर्म

के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं देव आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभवता हूं। मैं नरकगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनुभवता हूँ। मैं तिर्यंचगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं मनुष्य गति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं देवगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं एकेन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं त्रीन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं चतुरिन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं पंचेन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वैक्रियिकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं तैजसशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं कार्माण शरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिक-शरीर-अंगोपांग नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वैक्रियिक-शरीर-अंगोपांग नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारक-शरीर-अंगोपांग नाम [illegible] चैतन्य०। [illegible] शरीर-बंधन नाम कर्म०

मैं वैक्रियिक–शरीर–बंधन नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारक–शरीर–बंधन नाम कर्म० चैतन्य०। मैं तैजस-शरीर-बंधन नाम कर्म. चैतन्य०। मैं कार्माण-शरीर-बंधन नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिक-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वैक्रियिक-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारक-शरीर-संघात नामकर्म० चैतन्य०। मैं तैजस-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य०। मैं कार्माण शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य०। मैं समचतुरस्र-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य०। मैं न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान नामकर्म० चैतन्य०। मैं स्वातिक-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य०। मैं कुब्जक-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वामन-संस्थान नामकर्म० चैतन्य०। मैं हुंडक-संस्थान नामकर्म० चैतन्य०। मैं वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य०। मैं वज्रनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य०। मैं नाराच संहनन नाम कर्म० चैतन्य०। मैं अर्धनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य०। मैं कीलिक संहनन नामकर्म चैतन्य०। मैं असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म. चैतन्य०। मैं स्निग्ध-स्पर्श नामकर्म. चैतन्य.। मैं रूक्ष-स्पर्श नाम कर्म० चैतन्य.। मैं गुरुस्पर्श नामकर्म० चैतन्य०। मैं लघुस्पर्श नामकर्म० चैतन्य०। मैं शीतस्पर्श नाम कर्म० चैतन्य०। मैं उष्ण स्पर्श नामकर्म० चैतन्य०। मैं मृदुस्पर्श नामकर्म. चैतन्य.।

मैं कठोरस्पर्श नामकर्म. चैतन्य. । मैं मधुररस नामकर्म. चैतन्य. । मैं आम्लरस नामकर्म. चैतन्य. । मैं तिक्त रस नामकर्म. चैतन्य । मैं कटुक रस नामकर्म. चैतन्य. । मैं कषाय रस नाम कर्म. चैतन्य. । मैं सुगन्ध नाम कर्म. चैतन्य. । मैं दुर्गंध नाम कर्म. चैतन्य. । मैं शुक्लवर्ण नामकर्म. चैतन्य. । मैं रक्तवर्ण नाम कर्म. चैतन्य. । मैं पीतवर्ण नामकर्म. चैतन्य. । मैं हरित वर्ण नामकर्म. चैतन्य. । मैं कृष्णवर्ण नामकर्म. चैतन्य । मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म चैतन्य. । मैं तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य. । मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य. । मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य. । मैं निर्माण नामकर्म. चैतन्य. । मैं अगुरुलघु नामकर्म. चैतन्य. । मैं उपघात नामकर्म. चैतन्य. । मैं परघात नामकर्म. चैतन्य । मैं आतप नामकर्म. चैतन्य. । मैं उद्योत नामकर्म. चैतन्य. । मैं उच्छ्वास नामकर्म. चैतन्य. । मैं प्रशस्तविहायोगति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं अप्रशस्तविहायोगति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं साधारण शरीर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं प्रत्येक शरीर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं स्थावर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं त्रस नाम कर्म. चैतन्य. । मैं सुभग नाम कर्म. चैतन्य. । मैं दुर्भग नाम कर्म. चैतन्य. । मैं सुस्वर [illegible]र्म. चैतन्य. । मैं दुस्वर नाम कर्म. चैतन्य.

मोक्षमार्गकी चूलिका—

आत्माका स्वभाव चेतना है, अर्थात् आत्मा ज्ञायक स्वभावी है। परन्तु अनादि काल से परपदार्थों में सुखकी कल्पनाकर दुःखी हो रहा है। परपदार्थ दुःखका कारण नहीं है। दुःख का कारण अपनी निजकी बनाई कल्पना है। आगम द्वारा जब जीव अपने स्वरूपका ज्ञान करता है तब परपदार्थों में जो अनादिकी सुखकी कल्पना करता था वह कल्पना विलय हो जाती है। और निश्चल श्रद्धान हो जाता है कि परपदार्थों में सुख नहीं है परन्तु संपूर्ण सुख मेरी आत्मामें भरा हुआ है। और वही सुख अनेक प्रकारकी इच्छाओं के कारण छिपा हुआ, ढका हुआ है। ऐसी श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन और ऐसे जानने का नाम सम्यक् ज्ञान कहा जाता है।

ज्ञानका स्वभाव स्थिर रहकर देखना जानना है, परंतु अनेक प्रकार की इच्छाओं के कारण ज्ञान स्थिर न रहकर इधर उधर घूमता है। यही ज्ञानका घूमना दुःख की जड़ है। जितनी जितनी इच्छाओंका अभाव हो जाता है, उतना उतना ज्ञानका घूमना आप से आप रुक जाता है इसीका नाम सम्यक् चारित्र है।

चारित्र दो प्रकार का है—१ स्वचारित्र [illegible] स्वरूप में रमण करना अर्थात् [illegible]

स्वचारित्र है। स्वचारित्र को स्वसमय कहते हैं। विकारी भावोंमें रमण करना अर्थात् पुण्य–पाप भावोंमें रमण करना इसीका नाम परचारित्र है। परचारित्र को परसमय कहा जाता है। स्वसमय का नाम ज्ञान चेतना है और परसमयका नाम कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना है। जो स्वसमयी है सो साक्षात् मोक्ष मार्गी है। और जो परसमयी है सो संसार मार्गी है।

अनादिसे यह संसारी जीव निश्चयसे ज्ञान स्वभावी ही है, तीनकालमें जड़ स्वभावी नहीं होता है परन्तु अनादि मिथ्यात्व के कारण से अशुद्धोपयोगी होकर अनेक प्रकार के परभावों को धारण करता है। इस कारण अपने गुणपर्याय में स्थिर नहीं रहकर, परसमय रूप प्रवर्तता है। इसी कारण उसको व्यभिचारी अर्थात् परमें रमण करने वाला परसमयी कहा जाता है। जब वही जीव यथार्थ सम्यग्दर्शन की और सम्यग्ज्ञान की अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्राप्ति करता है, अर्थात् अपने ध्येय को, अपने लक्ष्यविन्दुको, श्रद्धामें लाता है तब अत्यन्त शुद्धोपयोगी होकर अपने को निजगुणपर्याय में रमण करता है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव में रमण करता है, अर्थात् अपने वीतराग भावमें रमण करता है, तब वही आत्मा [illegible] जाता है।

परसमयी का स्वरूप—

जो जीव अविद्या पिशाच स्वरूप मिथ्यात्व भावके वशीभूत होकर पांचइन्द्रिय और पांचइन्द्रिय के विषयमें अशुभ भावसे रमण करता है, एवं व्रतादिभाव, बारह प्रकारके तप रूप भाव, पंचमहाव्रत, पंचसमिति रूप भाव, एवं अरहंत भक्ति, आदि भावोंमें रमण करने रूप शुभ भावोंमें रमण करता है और जो अपने ज्ञायक भावमें रमण नहीं करता है, अर्थात् वीतराग भावमें रमण नहीं करता है वही आत्मिक शुद्धाचरण से रहित पर भावोंमें रमण करने वाला परसमयी है। क्योंकि अशुभ भावोंसे नियम से पापका ही बन्ध पड़ता है और शुभ भावोंसे पुण्य का पड़ता है। इसी प्रकार दोनों ही बन्धन भावोंमें रमण करने वाले जीव को परसमयी कहा जाता है, क्योंकि, वह जीव अपने स्वरूप से भ्रष्ट हुआ व्यभिचारी भावोंमें आनंद मानने वाला है ऐसा महा पुरुषों ने कहा है।

स्वसमयी का स्वरूप—

जो सम्यग्दृष्टि आत्मा निश्चय करके अपने ज्ञायक स्वभाव को देखता है, और जानता है वह जीव अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित होकर एकाग्रता से चित्तके निरोधपूर्वक वीतराग स्वरूप में लीन होकर प्रवर्तता है वही जीव स्वसमयी है।

वीतराग सर्वज्ञने निश्चय व्यवहारके भेदोंसे मोक्ष-मार्ग दिखाया है। उन दोनों में निश्चय नयके अवलंबन से शुद्धगुणगुणी का आश्रय लेकर अभेद भावरूप साध्य साधन की जो प्रवृत्ति है वही निश्चय मोक्ष मार्ग प्ररूपणा कही जाती है। और व्यवहारनय के अवलम्बन से अशुद्ध गुणगुणीका आश्रय लेकर भेद भावरूप साध्य साधन की जो व्रतादि रूप प्रवृत्ति है वही व्यवहार मोक्ष मार्ग प्ररूपणा कही जाती है। निश्चय साध्य है, और व्यवहार का अभाव सो साधन है। जैसे सोना साध्य है और जिस पाषाणमें से निकलता है उस पाषाण का अभाव सो साधन है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकता सो निश्चय मोक्षमार्ग है। षट्द्रव्य, पंचास्ति-काय, सप्ततत्त्व, नौपदार्थ इनका जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है, द्वादशांग के अर्थका जानना सो सम्यग्-ज्ञान है और पंचमहाव्रत आदि यतिका आचरण सो सम्यक्चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। यह व्यव-हार मोक्ष मार्ग जीव पुद्गलके सम्बन्ध का कारण पाकर जो पर्याय उत्पन्न हुई है उसी के आधीन है। साध्य भिन्न, साधन भिन्न है। साध्य निश्चय मोक्ष मार्ग है, साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है। सो

आदिक से अंतरंग में सावधान है उस जीव के सब जगह ऊपर के शुद्ध गुणस्थानोंमें शुद्ध स्वरूपकी वृद्धिसे अतिशय मनोज्ञता है। उन गुणस्थानोंमें रोकने वाला व्यवहार मोक्ष मार्ग है।

जो जीव निश्चय से अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र में परम रसी मात्र कर संयुक्त है। जो अपने आत्मिक स्वभाव में मस्त है, लीन है, वही आत्मा मोक्षमार्ग रूप है। समयग्दर्शन ज्ञान चारित्र से आत्मिक स्वरूपमें सावधान होकर जब आत्मिक स्वभाव में ही निश्चित विचरण करता है तब इसके निश्चय मोक्ष मार्ग कहा जाता है।

शंका—यदि आत्मा आपसे ही निश्चय मोक्ष मार्गी हो सकता है तो व्यवहार साधन किस लिये कहा ?

समाधान—साधन दो प्रकारका होता है। १ सद्‌भाव साधन, २ अभाव साधन। अनादि काल से जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें आत्मा रमण करता था उसका अभावकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र में रमण करना इसीका नाम व्यवहार साधन है। व्यवहार करते २ निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु व्यवहार छोड़ते २ निश्चयकी प्राप्ति होती है। व्यवहार का अभाव सो निश्चयका साधन कहा है।

निश्चय करके जो पुरुष आपके द्वारा आप ही अभेद रूप आचरण करे है, क्योंकि अभेद नय से आत्मा गुण-गुणी भावसे एक है, अन्य कारण के बिना आप ही आपको जानता है, स्वपर प्रकाशक चैतन्य शक्ति के द्वारा अनुभवी होता है, और आपही के द्वारा यथार्थ देखे है, सो आत्मनिष्ठ भेदविज्ञानी पुरुष आपही चारित्र है, आपही ज्ञान है, आपही दर्शन है। इस प्रकार गुणगुणी भेदसे आत्मा कर्ता है, ज्ञानादि कर्म है, शक्ति कारण है, इनका आपसमें नियम से अभेद है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि चारित्र, ज्ञान, दर्शन रूप आत्मा है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय एक प्रकारका है तो भी व्यवहारसे दो प्रकारका है। १ सराग रत्नत्रय, २ वीतराग रत्नत्रय। जो दर्शन ज्ञान चारित्र राग लिये होते हैं, उनको तो सराग रत्नत्रय कहते हैं। और जो रत्नत्रय आत्मनिष्ठ वीतरागता लिये होय वह वीतराग रत्नत्रय कहाता है। रागभाव आत्मिक भाव रहित परभाव है, परसमयरूप है। रत्नत्रय तो मोक्षका ही कारण है परन्तु रागके कारणसे रुढ़िके वश रत्नत्रयको बंधका भी कारण कहा जाता है। जैसे घृत अग्निके संयोगसे दाहका कारण होकर विरुद्ध कार्य करता है। यद्यपि घृत स्वभावमें शीतल ही है। इसी प्रकार रागके संयोगसे रत्नत्रय बन्-

कारण है। जिस काल समस्त परसमयकी निवृत्ति होकर स्वसमयरूप स्वरूपमें प्रवृत्ति होय उस समय अग्नि संयोग रहित घृत दाहादि विरुद्ध कार्योंका कारण नहीं होता, वैसे ही रत्नत्रय सरागताके अभावसे साक्षात् मोक्षका कारण होता है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि जब यह आत्मा स्वसमयसे प्रवर्ते, निज स्वाभाविक भावको आचरे, उस ही समय मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

सूक्ष्म परसमयका स्वरूप—

अरहंतादिक जो मोक्षके कारण हैं उन भगवन्त परमेष्ठीमें भक्तिरूप रागांशकर जो रागलिये चित्तकी वृत्ति होय, उसका नाम शुद्ध संप्रयोग कहा जाता है, परन्तु भगवन्त वीतराग देवकी अनादि वाणीमें अरहंत भक्ति को भी शुभरागांशरूप अज्ञान भाव कहा है। इस अज्ञान भावके होते संते जितने कालताईं यद्यपि यह आत्मा ज्ञानवंत भी है, तथापि अरहन्त भक्ति भावसे मोक्ष होती है ऐसे रागभावसे मुक्ति माननेके अभिप्रायसे खेद-खिन्न हुआ प्रवर्ते है, तब तितने काल वह ही रागांशके अस्तित्वसे परसमयमें रत है ऐसा कहा जाता है। और जिस जीवके विषयादि करके रागांशकर कलंकित अंतरंग वृत्ति होती है, वह तो पर समयमें रत है ही उसकी बात न्यारी है। क्योंकि जिस मोक्षमार्गमें अरहंत भक्तिका निषेध है, वहां निरर्गल •

तो सहज ही निषेध हो जाता है। जो जीव अरहंत भक्ति के रागांश कर पुण्य भावको छोड़ता नहीं है उसके बन्ध पद्धतिका अभाव होता नहीं है। अरहंत भक्तिके रागसे बहुत प्रकार पुण्य कर्मोंको बांधता है, किन्तु वह जीव सकल कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता है। इस कारण मोक्ष-मार्गियोंको चाहिये कि अरहंत भक्तिके रागकी कणिका भी छोड़ें, क्योंकि यह परसमयका कारण है, मोक्षमार्ग का घात करनेवाली है, इस कारण अरहंत भक्तिका भी मोक्षमार्गमें निषेध किया है। जिस पुरुषके चित्तमें आत्मिक भावे रहित परभावोंमें अर्थात् अरहन्त भक्तिके भावोंमें राग की कणिका भी विद्यमान है, वह पुरुष समस्त सिद्धांत शास्त्रोंको जानता हुआ भी सर्वांग वीतराग शुद्ध स्वरूप स्वसमयको नहीं पाता है, इस कारण मोक्षमार्गियों को भी अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति के लिये अरहंतादिककी भक्तिका राग क्रम से छोड़ना ही योग्य है। अरहन्तादिककी भक्ति भी प्रशस्त राग के बिना नहीं होती है, और रागादिक भावकी प्रवृत्ति होती है, और जो बुद्धि का विस्तार नहीं होय तो वह आत्मा उस भक्तिको किसी प्रकार धारण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि, बुद्धि के बिना भक्ति नहीं है, तथा रागके बिना भी भक्ति नहीं है। इस कारण इस जीव के रागादि [illegible] विस्तार होता है, तब इसके [illegible]

होता है। उस अशुद्धोपयोग के कारण से शुभाशुभ आश्रव होता है, इसी कारण बन्ध पद्धति है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि शुभाशुभ गतिरूप संसारके विलास का कारण एक मात्र रागादि संक्लेशरूप विभाव परिणाम ही है।

जो पुरुष सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत सिद्धान्त का श्रद्धानी है, जिसने पंचमहाव्रत अंगीकर किये हैं, उत्कृष्ट तपको धारण करता है, घोर उपसर्ग को जीतनेवाला है, पंच-परमेष्ठी में अतिशय रुचि पूर्वक भक्ति करता है, उस भक्ति को मोक्षपद में सहायक मानता है उस पुरुषको सकल कर्म रहित मोक्षपद अतिशय दूर हो जाता है। क्योंकि जो अरहन्तादिक पंचपरमेष्टीकी भक्ति है, वह मोक्षमार्ग में घात करनेवाली है, मोक्षमार्गमें अंतराय करने वाली है, ऐसा उसको श्रद्धान नहीं होने से मात्र संसार का ही भाजन है। यद्यपि विषयानुराग से रहित है तथापि प्रशस्तराग रूप परसमयकर संयुक्त है। उस प्रशस्त राग के संयोगसे नव पदार्थ तथा पंचपरमेष्ठी में भक्तिपूर्वक प्रतीति, श्रद्धा व रुचि उपजी है, ऐसे परसमय रूप प्रशस्त रागको वह छोड़ नहीं सकता, उस कारणहीं साक्षात् मोक्ष पदको नहीं पाता। जब ऐसा है तब उसकी गति किस प्रकार होती है? देवादि गतियोंमें संक्लेश परिणामोंको प्राप्त होता है। जो पुरुष निश्चय करके अरहन्तादिककी

भक्तिमें सावधान बुद्धि करता है और उत्कृष्ट इंद्रिय मनसे शोभायमान परम श्रद्धान [illegible] तपस्या करता है, सो पुरुष उतनाही [illegible] के द्वारा प्रशस्त राग मात्र क्लेश कलंकित [illegible] चित्त होकर साक्षात् मोक्षको नहीं [illegible] अंतराय करने वाले स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। उस स्वर्ग में जीव सर्वथा अध्यात्म [illegible], इन्द्रियविषयरूप विष वृक्ष की वासना से, मोहित चित्त होके [illegible] हुआ, बहुत काल पर्यंत सराग [illegible] से दह्यमान हुआ जलता हुवा बहुत ही [illegible] होता है।

जो साक्षात् मोक्ष [illegible] है सो वीतराग भाव है। अरहन्तादिकमें जो भक्ति है सो राग है वह स्वर्गलोकादिक के क्लेशकी प्राप्ति करके अंतरंगमें अतिशय दाहको उत्पन्न करे है। कैसा है [illegible] राग ? कैसी है अरहंत भक्ति ? जैसे चंदन वृक्षमें लगी अग्नि पुरुषको जलाती है। यद्यपि चन्दन शीतल है, अग्नि की दाह को दूर करनेवाला है, तथापि चन्दनमें लगी हुई अग्नि आतापको ही उपजाती है। इसी प्रकार धर्मराग, अरहन्त भक्ति, आत्माके सुखको जलानेवाली है। इस कारण [illegible] राग भी छोड़ने योग्य, त्यागने योग्य जानना। जो कोई मोक्षका अभिलाषी महाजन है, सो प्रथम ही विषय रागका त्यागी

बाद में पुण्य भाव को छोड कर, अत्यन्त वीतरागी होकर संसार समुद्र से पार जाता है। जो संसार समुद्र नाना प्रकारके सुख दुःख रूपी कल्लोलोंके द्वारा आकुल व्याकुल है। कर्म रूप बड़वाग्निकर बहुत ही भयको उपजानेवाला, अति दुस्तर है। वीतरागी ही ऐसे संसारके पार जाकर परम मुक्त अवस्थारूप अमृत समुद्रमें मग्न होकर तत्काल ही मोक्ष पदको पाते हैं। बहुत विस्तार कहाँतक किया जाय, जो साक्षात् मोक्ष मार्गका प्रधान कारण है, जो समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है, ऐसा जो वीतराग भाव सो ही जयवन्त हो, जयवन्त हो।

मोक्षमार्गी जीवका स्वरूप

प्रथम ही जे जीव ज्ञान अवस्थामें रहनेवाले हैं वे तीर्थंकर कहाते हैं। तीर्थ साधन भाव जहां है, तीर्थफल शुद्ध सिद्ध अवस्था साध्य भाव है। तीर्थ क्या है सो दिखाते हैं।

जिन जीवोंके ऐसे विकल्प होते हैं कि यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य है, यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा है, यह श्रद्धान है, इसका नाम अश्रद्धान है, यह वस्तु जानने योग्य है, यह स्वरूप का ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह आचरने योग्य है, यह वस्तु आचरने योग्य नहीं है, यह आचारमयी

भाव है, यह आचरण करनेवाला है, यह चारित्र है, इस प्रकारके करने न करनेके कर्ता कर्मके भेद उपजते हैं। उन विकल्पोंके होते हुए उन पुरुष तीर्थों के सुदृष्टिके चढ़ावसे ारम्बार इन पूर्वोक्त गुणोंके देखनेसे प्रगट उल्लास लिये त्साह बढ़े है। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला बढ़ती ाती है, तैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप मूल चन्द्रमाकी लाओंका कर्त्तव्याकर्त्तव्य भेदोंसे उन जीवोंके बढवारी ोती है। फिर उन जीवोंके क्रमक्रमसे मोहरूप महामल्लका ूल सत्तासे विनाश होता है। फिर भी एक कालमें अज्ञानताके आवेशसे प्रमादकी आधीनतासे उन्हीं जीवोंके आत्मधर्मकी शिथिलता है, फिर आत्माको न्याय मार्गमें चलाने के लिये आपको प्रचण्ड दण्ड देते हैं। शास्त्र न्यायसे फिर ये ही जिनमार्गी बारंबार जैसा कुछ रत्नत्रय में दोष लगा होय उसप्रकार प्रायश्चित करते हैं। फिर निरंतर उद्यमी रहकर अपनी आत्माको जो आत्म स्वरूपसे भिन्न स्वरूप श्रद्धान, ज्ञान, चारित्ररूप व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं। जैसे मलिन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य साधन भाव कर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है वैसेही व्यवहार नयका अवलम्बन पाय भिन्न साध्य साधन भावके द्वारा गुणस्थान चढने की परिपाटी क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। फिर उन्हीं मा

साधक जीवोंके निश्चनयकी मुख्यतासे भेद स्वरूप [illegible] अवलंबी व्यवहारमयी भिन्न साध्य साधन भावका [illegible] है। इस कारण अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप [illegible] सावधान होकर, अन्तरंगगुप्त अवस्था को धारण करते [illegible] और जो समस्त बहिरङ्ग योगोंसे उत्पन्न है, क्रियाकाण्ड [illegible] आडम्बर, तिनसे रहित, निरंतर संकल्प विकल्पों से रहि[illegible] परम चैतन्य भावोंके द्वारा सुन्दर, परिपूर्ण, आनन्दवं[illegible] भगवान परम ब्रह्म आत्मामें स्थिरता को धरे हैं, ऐसे [illegible] पुरुष हैं वेही निश्चयावलम्बी मोक्षमार्गी जीव हैं। व्यवहा[illegible] नयसे अविरोधी क्रमसे परम समरसी भावके भोक्ता होते हैं [illegible] तत्पश्चात् परम वीतराग पदको प्राप्त होकर साक्षात् [illegible] मोक्षावस्था के अनुभवी होते हैं।

व्यवहाराभासीका स्वरूप

जो जीव केवल मात्र व्यवहार नयका ही अवलम्बन करते हैं, उन जीवों के परद्रव्य रूप भिन्न साधन साध्य भाव की दृष्टि है, अर्थात् पुण्य भाव से ही मोक्ष मानते हैं। स्वद्रव्य रूप अभेद साध्य साधन भावकी दृष्टि नहीं है, अकेले व्यवहार से खेद खिन्न हैं। अनेक प्रकार यतिका द्रव्यलिंग, जिन बहिरंग व्रत, तपस्यादि कर्मकाण्डों के द्वारा होता है उनका ही अवलम्बनकर स्वरूपसे भ्रष्ट हुआ है। मिथ्यात्व भावके कारण व्यवहार धर्मरागके अंशकर

किसी काल में पुण्य क्रिया में रुचि करता है, किसी कालमें दयावन्त होता है, किसी काल में अनेक विकल्पों को उपजाता है, किसी काल में कुछ आचरण करता है, किसी काल में दर्शन के आचरण में समता भाव धरता है। बहुत प्रकार विनय में प्रवर्ते है। शास्त्रकी भक्तिके निमित्त बहुत आरंभ भी करता है। भले प्रकार शास्त्रका मान करता है। चारित्र के धारण करने के लिये हिंसा, असत्य, चोरी, स्त्री सेवन और परिग्रह इन पांच अधर्मों का जो सर्वथा त्याग रूप पांच महाव्रत हैं तिनमें थिर वृत्ति को करता है। मन, वचन और कायका निरोध है जिनमें, ऐसी तीन गुप्तियों कर निरंतर योगावलम्बन करता है। ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग जो पांच समिति हैं, उनमें सर्वथा प्रयत्न करता है। तपाचार के निमित्त अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान रस परित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश इन छह प्रकार बाह्य तपमें निरंतर उत्साह करे है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान इन छह प्रकार के अतरंग तप के लिये चित्तको वश करे हैं। वीर्याचार के निमित्त कर्मकाण्ड में अपनी शक्तिसे प्रवर्ते है। कर्म चेतना की प्रधानता से सर्वथा निवारी है अशुभ कर्मकी प्रवृत्ति जिन्होंने वे ही शुभ कर्मकी प्रवृत्ति

अंगीकार करते हैं। समस्त क्रिया काण्डके आडम्बरसे गर्भित ऐसे जे जीव हैं, ते ज्ञान दर्शन चारित्र गर्भित ज्ञान चेतनाको किसी कालमें भी नहीं पाते हैं। बहुत पुण्याचार के भार से गर्भित चित वृतिको धरते हैं, ऐसे जे केवल व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्गलोकादिक क्लेशोंकी प्राप्तिकी परम्परा को अनुभव करते हुए परम ज्ञान कलाके अभाव से बहुत काल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करेंगे। कहा भी है कि—

'चरण करणप्पहाणा ससमय परमत्थ मुक्कवावारा:।
चरण करणस्स सारं णिच्चय सुद्ध' ण जाणंति॥

निश्चयाभासी का स्वरूप

जो जीव केवल निश्चयनय के ही अवलंबी हैं, वे व्यवहारूप स्वसमयमयी क्रिया काण्डको आडंबर जान व्रतादिकमें विरागी होय रहे हैं। अर्द्ध उन्मीलित लोचन से उर्ध्वमुखी होकर स्वच्छंद वृत्ति को धारण करते हैं। कोई २ अपनी बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि हम स्वरूपको अनुभवते हैं ऐसी समझसे सुखरूप प्रवर्ते हैं। भिन्न साध्य साधन रूप पुण्य भाव को अर्थात् व्यवहार को तो मानते नहीं, निश्चयरूप अभिन्न साध्य साधनको अर्थात् वीतराग भावको अपने में मानते हुए योंही बक रहे हैं। यथार्थ वस्तुको नहीं पाते हैं। न निश्चयको पाते हैं, न

पवहार पदको पाते हैं। "इतो भ्रष्टा ततो भ्रष्ट" होकर बीच
ं ही प्रमाद रूपी मदिरा के प्रभावसे चित्तमें मतवाले हुये
छितसे हो रहे हैं। जैसे कोई बहुत घी, मिश्री, दूध
इत्यादि गरिष्ट वस्तु के भोजन पान से स्थिर आलसी हो
हे हैं। अर्थात् अपनी उत्कृष्ट देहके बलसे जड़ होरहे हैं।
महा भयानक भावसे जानोंकि मनमें अज्ञानसे मोहित
विक्षिप्त हो गये हैं। चैतन्य भावसे रहित जानों कि वन-
स्पति ही हैं, अर्थात् निगोद जैसे हैं। मुनि पदवी करने
हारी कर्मचेतनाको पुण्य बन्धके भयसे अवलम्बन नहीं
करते और परम निःकर्मदशारूप ज्ञान चेतनाको अंगीकार
नहीं करते हैं। इसी कारण अतिशय पापरूप चंचल भावोंके
धारी हैं। प्रगट अप्रगटरूप जो प्रमाद है उनके आधीन
हो रहे हैं। महा अशुद्धोपयोगसे आगामी कालमें कर्म
फल चेतनासे प्रधान होते हुए वनस्पतिके समान जड़ हैं।
केवल पाप ही के भार बांधनेवाले हैं। सो कहा भी है कि

णिच्चयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहरि चरणालसा केई॥

उपसंहार—जो कोई पुरुष मोक्षके निमित्त सदाकाल
उद्यमी हो रहे हैं वे महा भाग्यवान हैं। निश्चय, व्यवहार
इन दोनों नयोंमें किसी "एकका" पक्ष नहीं करते, किन्तु
माध्यस्थ भाव रखते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म

अंगीकार करते हैं। समस्त क्रिया काण्डके आडम्बरसे गर्भित ऐसे जे जीव हैं, ते ज्ञान दर्शन चारित्र गर्भित ज्ञान चेतनाको किसी कालमें भी नहीं पाते हैं। बहुत पुण्याचार के भार से गर्भित चित धृतिको धरते हैं, ऐसे जे केवल व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्गलोकादिक क्लेशोंकी प्राप्तिकी परम्परा को अनुभव करते हुए परम ज्ञान कलाके अभाव से बहुत काल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करेंगे। कहा भी है कि—

'चरण करणप्पहाणा सुसमय परमत्थ मुक्कवावाराः।
चरण करणस्स सारं णिच्चय सुद्धं ण जाणंति॥

निश्चयाभासी का स्वरूप

जो जीव केवल निश्चयनय के ही अवलंबी हैं, वे व्यवहारूप स्वसमयमयी क्रिया काण्डको आडंबर जान व्रतादिकमें विरागी होय रहे हैं। अर्द्ध उन्मीलित लोचन से उर्ध्वमुखी होकर स्वच्छंद वृत्ति को धारण करते हैं। कोई २ अपनी बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि हम स्वरूपको अनुभवते हैं ऐसी समझसे सुखरूप प्रवर्तें हैं। भिन्न साध्य साधन रूप पुण्य भाव को अर्थात् व्यवहार को तो मानते नहीं, निश्चयरूप अभिन्न साध्य साधनको अर्थात् वीतराग भावको अपने में मानते हुए योंही बक रहे हैं। यथार्थ वस्तुको नहीं पाते हैं। न निश्चयको पाते हैं, न

व्यवहार पदको पाते हैं। "इतो भ्रष्ट तो भ्रष्ट" होकर बीच में ही प्रमाद रूपी मदिरा के प्रभावसे चित्तमें मतवाले हुये मूर्छितसे हो रहे हैं। जैसे कोई बहुत घी, मिश्री, दूध इत्यादि गरिष्ठ वस्तु के भोजन पान से स्थिर आलसी हो रहे हैं। अर्थात् अपनी उत्कृष्ट देहके बलसे जड होरहे हैं। महा भयानक भावसे जानोंकि मनकी भ्रष्टतासे मोहित विक्षिप्त हो गये हैं। चैतन्य भावसे रहित जानों कि वनस्पति ही हैं, अर्थात् निगोद जैसे हैं। मुनि पदवी करने हारी कर्मचेतनाको पुण्य बन्धके भयसे अवलम्बन नहीं करते और परम निःकर्मदशारूप ज्ञान चेतनाको अंगीकार नहीं करते हैं। इसी कारण अतिशय पापरूप चंचल भावोंके धारी हैं। प्रगट अप्रगटरूप जो प्रमाद हैं उनके आधीन हो रहे हैं। महा अशुद्धोपयोगसे आगामी कालमें कर्म फल चेतनासे प्रधान होते हुए वनस्पतिके समान जड़ हैं। केवल पाप ही के मात्र बांधनेवाले हैं। सो कहा भी है कि—

णिच्चयमालंवंता णिच्चयदो णिच्चयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहरि चरणालसा केई॥

उपसंहार—जो कोई पुरुष मोक्षके निमित्त सदाकाल उद्यमी हो रहे हैं वे महा भाग्यवान हैं। निश्चय, व्यवहार इन दोनों नयोंमें किसी "एकका" पक्ष नहीं करते, सर्वथा माध्यस्थ भाव रखते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म

स्थिरता करने के लिये सावधान रहते हैं। जब प्रमाद भाव की प्रवृत्ति होती है तब उसको दूर करनेके लिये शास्त्राज्ञानुसार क्रियाकाण्ड परणतिरूप प्रायश्चित्त करके अत्यन्त उदासीन भाव धारण करते हैं। फिर यथाशक्ति आपको आपके द्वारा आपमें ही वेदे हैं। सदा निज स्वरूपके उपयोगी होते हैं, जो ऐसे अनेकान्तवादी साधक अवस्थाके धारण हारे जीव हैं वे अपने तत्त्वकी स्थिरता अनुकूल क्रम क्रमसे कर्मोंका नाश करते हैं। अत्यन्त ही प्रमादसे रहित होते अडोल अवस्थाको धरते हैं। ऐसा जानों कि वनमें वनस्पति है। दूर किया है कर्मफल चेतनाका अनुभव जिन्होंने तथा कर्मचेतना की अनुभूतिमें उत्साह रहित हैं, केवल मात्र 'ज्ञानचेतना' अनुभूति से आत्मिक सुखसे भरपूर हैं। शीघ्र ही संसार समुद्रसे पार होकर समस्त सिद्धान्तों के मूल शास्वत पदके भोक्ता होते हैं।

